विवेक-ज्योति

वर्ष ४२ अंक ६ जून २००४ मूल्य रु. ६.००

रामकृष्ण मिशन, विवेकानन्द आश्रम, रायपुर (छ.ग.)

॥ आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च ॥

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

जून २००४

प्रबन्ध-सम्पादक
स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक
स्वामी विदेहात्मानन्द

वर्ष ४२
अंक ६

वार्षिक ५०/- एक प्रति ६/-

५ वर्षों के लिए — रु. २२५/-
आजीवन (२५ वर्षों के लिए) — रु. १,०००/-
विदेशों में — वार्षिक १५ डॉलर, आजीवन — २०० डॉलर
(हवाई डाक से) १०० डॉलर (समुद्री डाक से)

रामकृष्ण मिशन
विवेकानन्द आश्रम
रायपुर – ४९२ ००१ (छ.ग.)

दूरभाष : २२२५२६९, ५०३६९५९, २२२४११९

अनुक्रमणिका

मुद्रक : संयोग आफसेट प्रा. लि., बजरंगनगर, रायपुर (फोन : २५४६६०३)

श्रीरामकृष्ण के दृष्टान्त – २०

रेखांकन – स्वामी आप्तानन्द

परमहंस को सदा यही बोध होता है कि ईश्वर सत्य हैं, शेष सभी अनित्य। हंस में जल से दूध को अलग निकाल लेने की शक्ति है। उसकी जिह्वा में एक प्रकार का खट्टा रस रहता है; दूध और जल यदि मिला हुआ रहे तो उस रस के द्वारा दूध अलग और जल अलग हो जाता है। परमहंस के मुख में भी खट्टा रस है, प्रेमाभक्ति। प्रेमाभक्ति रहने से ही नित्य-अनित्य का विवेक होता है, ईश्वर की अनुभूति होती है, ईश्वर का दर्शन होता है। जो लोग ईश्वर का चिन्तन करते हैं, विषय में आसक्ति, कामिनी-कांचन में प्रेम को दूर करने के लिए दिन-रात प्रार्थना करते हैं, जिन्हें विषय का रस कडुवा लगता है, हरि-पाद-पद्म की सुधा को छोड़कर जिन्हें और कुछ भी अच्छा नहीं लगता, उनका स्वभाव हंस जैसा होता है। हंस के सामने दूध-जल मिलाकर रखो, जल छोड़कर दूध पी जायेगा। हंस की चाल देखी है? एक ओर सीधा चला जायेगा। और शुद्ध भक्ति की गति भी केवल ईश्वर की ओर होती है। वह और कुछ नहीं चाहता। उसे और कुछ भी अच्छा नहीं लगता।

माया के इस संसार में विद्या और अविद्या दोनों ही हैं। जल और दूध एक साथ मिले हुए हैं। चिदानन्द-रस और विषय-रस। हंस की तरह दूध का अंश लेकर जल का भाग छोड़ देना।

वर्ष ४२ जून २००४ अंक ६

वैराग्य-शतकम्

क्षान्तं न क्षमया गृहोचितसुखं त्यक्तं न संतोषतः
सोढा दुःसहशीतवाततपनक्लेशा न तप्तं तपः ।
ध्यातं वित्तमहर्निशं नियमितप्राणैर्न शंभोः पदं
तत्तत्कर्म कृतं यदेव मुनिभिस्तैस्तैः फलैर्वञ्चिताः ।।६।।

अर्थ – हमने वास्तविक क्षमाभाव से क्षमा नहीं किया, संसार के विविध सहजलभ्य सुखों की तुच्छता समझकर सन्तोषपूर्वक उनका त्याग नहीं किया, बल्कि मजबूरी में किया; कठोर ठण्ड, हवा, धूप आदि के कष्ट सहन किये, परन्तु चान्द्रायण आदि तप में नहीं तपे; दिन-रात धन का चिन्तन किया, परन्तु संयमित प्राणों से महादेव शिव के चरणों का ध्यान नहीं किया; मुनियों द्वारा जो भी किये जाते हैं, वे सारे कर्म हमने किये, परन्तु उचित भाव न होने के कारण उन उन कर्मों के फलों से वंचित रह गये ।

भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्ताः तपो न तप्तं वयमेव तप्ताः ।
कालो न यातो वयमेव याताः तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णाः ।।७।।

अर्थ – हमारे द्वारा विषयों का भोग नहीं हुआ, बल्कि हम ही विषयों के द्वारा भोगे गये; व्रत, उपासना आदि तप हमसे नहीं हुए, बल्कि हम ही त्रिविध तापों से तप्त हो गये, काल नहीं बीता, बल्कि हम ही बीत गये; विषयों की कामना बूढ़ी नहीं हुई, बल्कि हम ही जरा-जीर्ण हो गये ।

वलीभिर्मुखमाक्रान्तं पलितेनाङ्कितं शिरः ।
गात्राणि शिथिलायन्ते तृष्णैका तरुणायते ।।८।।

अर्थ – हमारा मुखमण्डल झुर्रियों से आक्रान्त हो गया है, सिर श्वेत केशों से चिह्नित, परिपूर्ण हो गया है, शरीर शिथिल होता जा रहा है; परन्तु एकमात्र तृष्णा ही ऐसी है, जो तरुण अर्थात् बलवान होती जा रही है ।

– भर्तृहरि

श्रीरामकृष्ण-स्तुति

– १ –

(बिहाग या आसावरी-कहरवा)

मन तू, कर ठाकुर का ध्यान ।
परम शान्ति पायेगा चित में, होगा चिर कल्यान ।।

रूप देख कन्दर्प लजाता, काम-लोभ पल में मिट जाता,
चिन्मय सुन्दर अति मनभावन, परम सुधा की खान ।।

कृपासिन्धु वे अवढर दाता, दीनबन्धु सद्‌गुरु पितु-माता,
अपना परम सुहृद उनको ही, अब से लेना जान ।।

जीवन में दुख बहुत उठाये, जो कुछ चाहा कभी न पाए,
अब थोड़ी 'विदेह' की सुन ले, अपना हित पहचान ।।

– २ –

(केदार-कहरवा)

सुन लो मेरी पुकार,
ठाकुर सुन लो मेरी पुकार ।
जनम जनम का दास तुम्हारा,
कैसा सोच विचार ।।

यह मन चंचल धावत पल पल,
करत प्रपंच कपट नाना छल,
मानत नहिं समझाकर मैं तो
हार्‌यो सौ सौ बार ।।

भवसागर अति अगम अपारा
भरा हुआ, पर जल है खारा,
पार करो मम जीवन-नौका
तुम ही धर पतवार ।।

त्रिविध ताप से होकर आहत,
तव चरणों में हूँ शरणागत,
कृपादृष्टि से तुम्हीं उठाओ,
मेरा जीवन-भार ।।

– *विदेह*

अहिंसा और बल

स्वामी विवेकानन्द

शरीर, मन और वचन के द्वारा कभी किसी प्राणी की हिसा न करना या क्लेश न देना – अहिंसा कहलाता है। अहिंसा से बढ़कर और धर्म नहीं। मनुष्य के लिए जीवों के प्रति अहिंसा-भाव रखने से बढ़कर दूसरा कोई सुख नही है।

अहिंसा की कसौटी है – ईर्ष्या का अभाव। कोई व्यक्ति भले ही क्षणिक आवेश में आकर अथवा किसी अन्धविश्वास से प्रेरित हो या पुरोहितों के फेर में पड़कर कोई भला काम कर डाले या बड़ा दान दे डाले, पर **मानव जाति का सच्चा प्रेमी वह है, जो किसी के प्रति ईर्ष्या-भाव नहीं रखता।** बहुधा देखने में आता है कि संसार में बड़े कहलाने वाले व्यक्ति भी केवल थोड़े से नाम-कीर्ति या चाँदी के चन्द टुकड़ों के लिए प्राय: एक दूसरे से ईर्ष्या करने लगते हैं। जब तक मन में ईर्ष्या का यह भाव है, तब तक अहिंसा-भाव में प्रतिष्ठित होना बहुत दूर की बात है। गाय और भेड़ मांस नहीं खाते, तो क्या वे बहुत बड़े योगी हो गये, अहिंसक हो गये? ऐरा-गैरा कोई भी कोई विशेष चीज खाना छोड़ दे सकता है, पर इससे वह घासाहारी पशुओं की अपेक्षा कोई विशेषता नहीं प्राप्त करता। जो मनुष्य निर्दयता के साथ विधवाओं और अनाथ बालक-बालिकाओं को ठग सकता है और जो थोड़े से धन के लिए जघन्य-से-जघन्य कर्म करने में भी नहीं हिचकता, वह चाहे घास खाकर ही क्यों न रहता हो, वह तो पशु से भी गया-बीता है। जिसके हृदय में कभी भी किसी के प्रति अनिष्ट विचार तक नहीं आता, जो अपने बड़े-से-बड़े शत्रु की भी उन्नति पर आनन्द मनाता है, वह प्रतिदिन चाहे शूकर-मांस ही क्यों न खाता हो, पर वही वास्तव में भक्त है, वही योगी है और वही सबका गुरु है। अत: हमें सदैव इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि बाह्य क्रियाएँ आन्तरिक शुद्धि के लिए सहायक मात्र हैं। जब बाह्य कर्मों के साधन में छोटी छोटी बातों का पालन सम्भव न हो, तो उस समय केवल अन्त:शौच का अवलम्बन करना श्रेयस्कर है। पर धिक्कार है उस व्यक्ति को, धिक्कार है उस राष्ट्र को, जो धर्म के सार को तो भूल जाता है और अभ्यासवश बाह्य अनुष्ठानों को ही कसकर पकड़े रहता है तथा उन्हें किसी तरह छोड़ता नहीं!

जो मुक्त होना चाहे, उसे अहिंसक बनना पड़ेगा। जिसमें अहिंसा का भाव है, उससे बढ़कर शक्तिशाली कोई नहीं है। उसकी उपस्थिति में न तो कोई लड़ सकता है और न झगड़ा कर सकता है। हाँ, वह जहाँ कहीं होगा, उसकी उपस्थिति मात्र से वहाँ शान्ति और प्रेम उत्पन्न होगा, दूसरी किसी वस्तु की जरूरत नहीं है। उसकी उपस्थिति में न कोई क्रुद्ध होगा, न लड़ेगा। उसके सामने पशु – हिंस्र पशु तक शान्त रहेंगे।

सब महापुरुषों का उपदेश है – "बुराई का प्रतिरोध मत करो, अप्रतिरोध ही सर्वोच्च नैतिक आदर्श है।" हम जानते हैं कि यदि हममें से कुछ लोग इस सूत्र को पूर्णत: चरितार्थ करने लगें, तो समाज का सारा संघटन ही छिन्न-भिन्न हो जायेगा। दुष्ट लोग हमारी जान-माल पर हाथ साफ करने और मनमानी करने लगेंगे। यदि इस प्रकार का 'अप्रतिरोध-धर्म' एक दिन भी आचरण में लाया जाय, तो बड़ी गड़बड़ी मच जायेगी। तथापि अपने हृदय के अन्तस्तल से हम – 'बुराई का प्रतिरोध न करो' – उपदेश की सत्यता अनुभव करते रहते हैं। हमें वह सर्वोच्च आदर्श प्रतीत होता है; पर केवल इसी मत का प्रचार करना अधिकांश मानवता की भर्त्सना होगी। इतना ही नहीं, बल्कि इसके द्वारा मनुष्यों को सदा यही अनुभव होने लगेगा कि वे अन्याय ही कर रहे हैं। उनके हृदय में प्रत्येक कार्य के बारे में संकल्प-विकल्प सा होने लगेगा, उनका मन दुर्बल हो जायेगा और अन्य किसी दुर्गुण की अपेक्षा यह सतत आत्म-धिक्कार उनमें अधिक दुर्गुणों को उत्पन्न कर देगा।

निष्क्रियता का हर प्रकार से त्याग करना चाहिए। क्रियाशीलता का अर्थ है 'प्रतिरोध'। सभी मानसिक तथा शारीरिक दोषों का प्रतिरोध करो और जब तुम इस प्रतिरोध में सफल होगे, तभी शान्ति मिलेगी। यह कहना बड़ा सरल है कि 'किसी से घृणा मत करो, किसी बुराई का प्रतिरोध मत करो', परन्तु हम जानते हैं कि इसे कार्यरूप में परिणत करना क्या है। जब सारे समाज की आँखें हमारी ओर लगी हों, तो हम अप्रतिरोध का प्रदर्शन भले ही करें, परन्तु हमारे हृदय को वह सदैव कुरेदती रहती है। ... यह तो सरासर ढोंग है और इससे कोई लाभ नहीं होता।

गृहस्थ को अपने शत्रु के सामने शूर होना चाहिए और गुरु तथा बन्धुजनों के समक्ष नम्र। उसे शत्रु के सम्मुख शूरता प्रकट करके उस पर शासन करना चाहिए। गृहस्थ का यह आवश्यक कर्तव्य है। गृहस्थ को घर के कोने में बैठकर रोना और **अहिंसा परमो धर्म:** – कहकर व्यर्थ बकवास नहीं करना

चाहिए। यदि वह शत्रु के सम्मुख वीरता नहीं दिखाता है, तो वह अपने कर्तव्य की अवहेलना करता है।

हम सबके सीखने के लिए यह एक महान् पाठ है कि सभी विषयों में दोनों चरम अवस्थाएँ एक जैसी होती हैं। चरम 'अस्ति' और चरम 'नास्ति' – दोनों सदैव एक समान होते हैं। उदाहरणार्थ, प्रकाश का स्पन्दन यदि अत्यन्त मन्द हो, तो हम उसे नहीं देख सकते; और वैसे ही जब वह अत्यन्त तीव्र होता है, तब भी हम उसे देखने में असमर्थ होते हैं। 'ध्वनि' के सम्बन्ध में भी ठीक ऐसा ही है। न तो उसके तार-स्वर के बहुत निम्न होने पर हम उसे सुन सकते हैं और न उसके बहुत उच्च होने पर। इसी प्रकार का भेद 'प्रतिरोध' (हिंसा) तथा 'अप्रतिरोध' (अहिंसा) में है। एक व्यक्ति इसलिए प्रतिरोध नहीं करता कि वह कमजोर, सुस्त तथा असमर्थ है; और दूसरा व्यक्ति इच्छा हो तो जबर्दस्त प्रतिरोध की क्षमता होते हुए भी न केवल अप्रतिरोध करता है, वरन् अपने शत्रुओं के प्रति शुभ कामनाएँ भी प्रकट करता है। अत: वह मनुष्य जो दुर्बलता के कारण प्रतिरोध नहीं करता, पापग्रस्त होता है और इस कारण अप्रतिरोध से कोई लाभ नहीं उठा सकता; परन्तु दूसरा मनुष्य यदि प्रतिरोध करे, तो वह भी पाप का भागी होता है।

बल

यह एक बड़ा सत्य है कि बल ही जीवन है और दुर्बलता ही मरण। बल ही अनन्त सुख है, अमर तथा शाश्वत जीवन है, और दुर्बलता ही मृत्यु है।

लोग बचपन से ही शिक्षा पाते हैं कि वे दुर्बल हैं, पापी हैं। इस प्रकार की शिक्षा से संसार दिन-पर-दिन दुर्बल होता जा रहा है। उन्हें सिखाओ कि वे सब उसी अमृत की सन्तान हैं – और तो और, जिसके भीतर आत्मा का प्रकाश अति क्षीण है, उसे भी यही शिक्षा दो। बचपन से ही उनके मस्तिष्क में इस प्रकार के विचार प्रविष्ट हो जायँ, जिनसे उनकी यथार्थ सहायता हो सके, जो उनको सबल बना दें, जिनसे उनका कुछ यथार्थ हित हो। दुर्बलता और अवसाद-कारक विचार उनके मस्तिष्क में प्रवेश ही न करें। सच्चिन्तन के स्रोत में शरीर को बहा दो, अपने मन से सर्वदा कहते रहो, 'मैं ही वह हूँ, मैं ही वह हूँ।' तुम्हारे मन में दिन-रात यह बात संगीत की भाँति झंकृत होती रहे और मृत्यु के समय भी तुम्हारे अधरों पर – **सोऽहं सोऽहम्** – खेलता रहे। यही सत्य है – जगत् की अनन्त शक्ति तुम्हारे भीतर है।

ज्योंही तुमने कहा कि मैं बद्ध हूँ, दुर्बल हूँ, असहाय हूँ, त्योंही तुम्हारा दुर्भाग्य आरम्भ हो गया, तुमने अपने पैरों में एक और बेड़ी डाल ली। इसलिए ऐसी बात कभी न कहना और न कभी इस प्रकार सोचना ही।

वेदान्त कहता है – दुर्बलता ही संसार के सारे दुखों का कारण है; इसी से सारे दुख-कष्ट पैदा होते हैं। हम दुर्बल हैं, इसीलिए इतना दुख भोगते हैं। दुर्बलता के कारण ही हम चोरी-डकैती, झूठ-ठगी और ऐसे ही अनेकानेक दुष्कर्म करते हैं। दुर्बलता के कारण ही हम मृत्यु-मुख में पड़ते है। जहाँ हमें दुर्बल बनानेवाला कोई नहीं, वहाँ न मृत्यु है न दु:ख।

दैहिक, मानसिक अथवा आध्यात्मिक शिक्षा प्राप्त कर रहे स्त्री-पुरुषों, बालक-बालिकाओं से मैं एक यही प्रश्न करता हूँ – "क्या इससे तुम्हें बल प्राप्त होता है?" क्योंकि जानता हूँ, एकमात्र सत्य ही बल प्रदान करता है। मैं जानता हूँ कि एकमात्र सत्य ही प्राणप्रद है। सत्य की ओर गये बिना हम अन्य किसी भी उपाय से वीर नहीं हो सकते और वीर हुए बिना हम सत्य के पास नहीं पहुँच सकते। इसीलिए जो मत, जो शिक्षा-प्रणाली मन और मस्तिष्क को दुर्बल कर दे और मनुष्य में अन्धविश्वास भर दे, जिससे वह अन्धकार में टटोलता रहे, खयाली पुलाव पकाता रहे और सब प्रकार की अजीबो-गरीब और अन्धविश्वासपूर्ण बातों की तह छानता रहे, उस मत या प्रणाली को मैं पसन्द नहीं करता, क्योंकि मनुष्य पर उसका परिणाम बड़ा भयानक होता है। ऐसी प्रणालियों से कभी कोई उपकार नहीं होता; प्रत्युत वे मन में रुग्णता ला देती हैं, उसे दुर्बल बना देती हैं – इतना दुर्बल कि कालान्तर में मन सत्य को ग्रहण करने और उसके अनुसार जीवन-गठन करने में सर्वथा असमर्थ हो जाता है। अत: बल ही एक आवश्यक बात है।

अपने भाग्य के लिए मैं स्वयं उत्तरदायी हूँ। मैं स्वयं अपने भले-बुरे – दोनों का कर्ता हूँ। परन्तु मेरा स्वरूप शुद्ध और आनन्द मात्र है। इसके विपरीत जो विचार हैं, उनको त्याग देना चाहिए।

अपने से और सबसे यही कहना कि हम ब्रह्म-स्वरूप हैं। हम ज्यों ज्यों इसकी आवृत्ति करते हैं, त्यों त्यों हममें बल आता जाता है। **शिवोऽहम्** रूपी यह अभयवाणी क्रमश: अधिकाधिक गम्भीर हो हमारे हृदय में, हमारे सभी भावों में भिंदती जाती है और अन्त में हमारी नस नस में, हमारे शरीर के प्रत्येक भाग में व्याप्त हो जाती है।

जो लोग अपने दु:खों या कष्टों के लिए दूसरों को दोषी बनाते हैं (और दुख की बात तो यह है कि ऐसे लोगों की संख्या दिनोंदिन बढ़ती जा रही है), वे सामान्यत: अभागे और दुर्बल-मस्तिष्क हैं। अपने ही कर्म-दोष से वे ऐसी परिस्थिति में आ पड़े हैं और अब वे इसके लिए दूसरों को दोषी ठहरा रहे हैं। पर इससे उनकी दशा में तनिक भी परिवर्तन नहीं होता – उनका कोई लाभ नहीं होता, वरन् दूसरों पर दोष लादने की चेष्टा करने के कारण वे और भी दुर्बल बन जाते

हैं। अत: **अपने दोष के लिए तुम किसी को उत्तरदायी न समझो, अपने ही पैरों पर खड़े होने का प्रयत्न करो, सब कामों के लिए अपने को ही उत्तरदायी समझो। कहो कि जिन कष्टों को हम अभी झेल रहे हैं, वे हमारे ही किये हुए कर्मों के फल हैं।** यदि यह मान लिया जाय, तो यह भी प्रमाणित हो जाता है कि वे फिर हमारे द्वारा नष्ट भी किये जा सकते हैं। जो कुछ हमने सृष्ट किया है, उसका हम ध्वंस भी कर सकते हैं; जो कुछ दूसरों ने किया है, उसका नाश हमसे कभी नहीं हो सकता। अत: उठो, साहसी बनो, वीर होओ।

तुम जो कुछ बल या सहायता चाहो, सब तुम्हारे भीतर ही विद्यमान है। अत: इस ज्ञानरूप शक्ति के सहारे तुम बल प्राप्त करो **और अपने हाथों अपना भविष्य गढ़ डालो।** गतस्य शोचना नास्ति – अब तो सारा भविष्य तुम्हारे सामने पड़ा हुआ है। **यह बात सदैव स्मरण रखो कि तुम्हारा प्रत्येक विचार, प्रत्येक कार्य संचित रहेगा; और यह भी याद रखो कि जिस प्रकार तुम्हारे असत्-विचार और असत्-कार्य शेरों की तरह तुम पर कूद पड़ने की ताक में हैं, उसी प्रकार तुम्हारे सत्-विचार और सत्-कार्य भी हजारों देवताओं की शक्ति लेकर सर्वदा तुम्हारी रक्षा के लिए तैयार हैं।**

दुर्बलता का उपचार सदैव उसका चिंतन करते रहना नहीं, वरन् बल का चिंतन करना है। **मनुष्य में जो शक्ति पहले से ही विद्यमान है, उसे उसकी याद दिला दो।** वेदान्त मनुष्य को पापी न कहकर ठीक उसका विपरीत मार्ग ग्रहण करके कहता है – "तुम पूर्ण और शुद्धस्वरूप हो और जिसे तुम पाप कहते हो, वह तुममें है ही नहीं।" जिसे तुम 'पाप' कहते थे, वह तुम्हारी आत्माभिव्यक्ति का निम्नतम रूप है; अपनी आत्मा को उच्चतर भाव में प्रकाशित करो। यह एक बात हम सबको सदैव याद रखनी चाहिए और इसे हम सब कर सकते हैं। **कभी 'नहीं' मत कहना, कभी मत कहना – 'मैं नहीं कर सकता', क्योंकि तुम अनन्तस्वरूप हो।** तुम्हारे स्वरूप की तुलना में देश-काल भी कुछ नहीं हैं। तुम सब कुछ कर सकते हो, तुम सर्वशक्तिमान हो।

वह क्या है जिसके सहारे मनुष्य खड़ा होता है और काम करता है? – वह है बल। **बल ही पुण्य है तथा दुर्बलता ही पाप है।** उपनिषदों में यदि कोई ऐसा शब्द है जो वज्र-वेग से अज्ञान-राशि पर गिरता है और उसे बिल्कुल उड़ा देता है, तो वह है 'अभी:' – निर्भयता। संसार को यदि किसी एक धर्म की शिक्षा देनी हो, तो वह है 'निर्भयता'। यह सत्य है कि इस ऐहिक या आध्यात्मिक जगत् में भय ही पतन तथा पाप का कारण है। भय से ही दु:ख होता है, यही मृत्यु का कारण है तथा इसी के कारण सारी बुराई होती है। और भय होता क्यों है? – आत्मस्वरूप के अज्ञान के कारण।

तुमने जगत् पर जो सम्मोहन का पर्दा डाल रखा है, उसे हटा दो। मनुष्य को दुर्बल न सोचो, उसे दुर्बल न कहो। समझ लो कि एक दुर्बलता शब्द में ही सब पापों और सारे बुरे कर्मों का समावेश हो जाता है। सारे दोषपूर्ण कार्यों की मूल प्रेरणा दुर्बलता ही है। दुर्बलता के कारण ही मनुष्य सभी स्वार्थों में प्रवृत्त होता है। दुर्बलता के कारण ही मनुष्य दूसरों को कष्ट पहुँचाता है; दुर्बलता के कारण ही व्यक्ति अपना सच्चा स्वरूप प्रकाशित नहीं कर सकता। सब लोग जानें कि वे क्या हैं? दिन-रात वे अपने स्वरूप – **सोऽहम्** (मैं वही हूँ) का जप करें; माता के स्तनपान के साथ **सोऽहम्** – इस ओजमयी वाणी का पान करें।

अनन्त शक्ति तथा अनन्त बल को ही धर्म और ईश्वर कहते हैं। दुर्बलता और दासत्व का त्याग करो।

शक्ति, शक्ति – यही हमको चाहिए। हमें शक्ति की बड़ी आवश्यकता है। कौन प्रदान करेगा यह शक्ति? हमको दुर्बल करनेवाली हजारों चीजे हैं, बहुत-सी कहानियाँ भी हैं। हमारी जाति को शक्तिहीन कर सकने वाली हमारे प्रत्येक पुराण में इतनी कहानियाँ हैं कि जिससे संसार के सभी पुस्तकालयों का तीन-चौथाई भाग भरा जा सकता है; ऐसी दुर्बलताओं का प्रवेश हममें पिछले हजार वर्ष से ही हुआ है। ऐसा लगता है मानो विगत हजार वर्ष से हमारे जातीय जीवन का एकमात्र यही लक्ष्य था कि कैसे हम अपने को दुर्बल से दुर्बलतर बना सकेंगे। अन्त में हम वस्तुत: हर किसी पाँवों के पास रेंगने वाले ऐसे केचुओं के समान हो गये हैं कि इस समय जो भी चाहे, हमें कुचल सकता है। मित्रो, तुम्हारी और मेरी नसों में एक ही रक्त प्रवाहित हो रहा है, तुम्हारा जीवन-मरण मेरा भी जीवन-मरण है। मैं तुमसे पूर्वोक्त कारणों से कहता हूँ कि हमको शक्ति, केवल शक्ति ही चाहिए।

जिससे बल मिलता है, उसी का अनुसरण करना चाहिए। अन्यान्य विषयों में जैसा है, धर्म में भी ठीक वैसा ही है – जो तुमको दुर्बल बनाता है, वह समूल रूप से त्याज्य है।

❑❑❑

दोष-दर्शन

स्वामी आत्मानन्द

(ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्द जी ने आकाशवाणी के चिन्तन कार्यक्रम के लिए विविध विषयों पर अनेक विचारोत्तेजक लेख लिखे थे, जो उसके विभिन्न केन्द्रों द्वारा समय समय पर प्रसारित किये जाते रहे हैं तथा काफी लोकप्रिय हुए हैं। प्रस्तुत लेख आकाशवाणी, रायपुर से साभार गृहीत हुआ है। - सं.)

मैंने दिल्ली में एक बार श्रीरामकृष्णदेव की लीला-सहधर्मिणी श्री माँ सारदादेवी के जीवन और सन्देश पर चर्चा की थी। माँ ने किसी को शान्ति पाने का उपाय बताते हुए कहा था - ''किसी के दोष मत देखना, दोष देखना अपना।'' बाद में एक श्रोता ने मुझसे पूछा, यदि हम किसी के दोष न देखें तो काम कैसे चलेगा? व्यक्ति गलती करेगा और यदि हम उसका दोष बताएँगे, तब तो दोष देखना हो गया। और नहीं बताएँगे तो इससे दुनिया कैसे चलेगी?

यह सार्थक प्रश्न है। यदि हम दोष न देखें, तो सुधार कैसे होगा? यदि माता-पिता अपने बच्चे के दोष न देखें, तब बच्चे कैसे सुधरेंगे? यदि मैं अपने मातहत काम करनेवाले लोगों का दोष न देखूँ, तो उनको सुधारूँगा कैसे? यदि शिक्षक विद्यार्थी का दोष न देखे, तो विद्यार्थी आगे बढ़ेगा कैसे? बिना दोष-दर्शन के दोषों को सुधारने का कोई उपाय नहीं। तब यह जो कहा जाता है कि दूसरों का दोष न देखो, इसका क्या मतलब?

बात यह है कि दोष देखना भी दो प्रकार का है। एक तो वह, जिसमें दोष देखकर हम व्यक्ति की निन्दा करते हैं, उस पर हँसते हैं। ऐसा दोष देखने में हमें रस मिलता है। हम चटखारे लेकर दूसरे के दोषों की चर्चा करते हैं। दूसरा प्रकार वह है, जिसे हम चिकित्सक की दृष्टि कहते हैं। चिकित्सक भी रोगी के दोष देखता है, पर हँसने के लिए नहीं। वह उन्हें दूर करना चाहता है। दोषों को देखकर उसे हँसी नहीं आती, न ही दोषों का प्रचार करने में उसे रस मिलता है। वह भी बहुत बारीकी से दोष देखता है पर उनका निदान करने के लिए। जिस दोष-दर्शन की निन्दा की जाती है, वह पहले प्रकार का है।

तो उचित और अनुचित दोष-दर्शन की मोटी कसौटी यह है कि जब हम व्यक्ति का हित करने के लिए उसके दोषों को देखते हैं, तो वह उचित है। इसके पीछे हमारा अभिप्राय यही रहता है कि दोषों को बता देने से व्यक्ति अपने को सुधारने की चेष्टा करेगा। पर जहाँ दोष-दर्शन के पीछे व्यक्ति के अहित का भाव हो वह अनुचित है। ऐसे दोष-दर्शन से हमें बचना चाहिए। इसलिए ही नहीं कि उससे हम व्यक्ति का अकल्याण करते हैं, बल्कि इसलिए भी कि ऐसा करके हम स्वयं अपना अकल्याण करते हैं। जब हम दूसरों के दोषों को इस उद्देश्य से देखते हैं कि उन लोगों को हम नीचा दिखाएँ, तो वस्तुतः हम दोष का रसास्वादन कर रहे होते हैं। ऐसा रसास्वादन हमारे अपने भीतर उन दोषों को सक्रमित करने लगता है; फलस्वरूप जिन दोषों का दोषी हम दूसरों को बनाते थे, वे ही दोष हममें पैदा हो जाते हैं।

इस सन्दर्भ में श्रीरामकृष्ण देव के जीवन में घटी एक घटना स्मरणीय है। उनसे मिलने के लिए कर्ताभजा सम्प्रदाय के लोग आये थे। यह एक वामाचारी सम्प्रदाय था जो 'पंच मकार' की साधना में विश्वास करता था। जब ये लोग चले गये तो नरेन्द्रनाथ, जो कालान्तर में स्वामी विवेकानन्द के नाम से विख्यात हुए, उन लोगों की, उनकी साधना पद्धति की जमकर निन्दा करने लगे। श्रीरामकृष्ण ने उन्हें एकदम रोक दिया, कहा - ''क्या व्यर्थ की चर्चा करता है? दूसरों की गन्दगी की चर्चा हमारे मन में भी गन्दगी भर देती है। इसलिए ऐसे दोष-दर्शन और निन्दा-आक्षेप से बचना चाहिए।''

यह दोषों के प्रति सही दृष्टि है। हमें सावधानी रखनी चाहिए कि दूसरे व्यक्ति के जिन दोषों की चर्चा में हमें रस आता है, कहीं वे हमारे भी भीतर तो नहीं पैठ गये हैं।

दोष-दर्शन का एक दूसरा भी सन्दर्भ है, जो हमारे अपने लिए उपकारी है। चिकित्सक, शिक्षक, माता-पिता अथवा बड़े-बुजुर्गों का दोष-दर्शन दूसरों के लिए उपकारी होता है, पर वे स्वय के उपकार के लिए भी दोष-दर्शन कर सकते हैं। इसका वर्णन गीता के १३वें अध्याय के अन्तर्गत ८वें श्लोक में किया गया है, जहाँ पर कहा गया है - **जन्ममृत्युजराव्याधि दुःखदोषानुदर्शनम्** - जन्म, मृत्यु, बुढ़ापा और रोग में दुःख और दोष का बार बार विचार करना। यह साधना के क्षेत्र का दोष-दर्शन है, जो शरीर के दोषों को देखने का पाठ सिखाता है। जिस शरीर के प्रति आसक्ति के कारण हम दूसरों के हित का ध्यान नहीं रखते हैं, वह स्वय कितने दोषों से भरा है, ऐसा बारम्बार विचार हमें अपने शरीर के घेरे से ऊपर उठाता है और व्यापक दृष्टि प्रदान करता है। जिस शरीर को हम इतना सजाते-सँवारते हैं, वह आखिर मल का ही तो हण्डा है, केवल गन्दगी ही तो बिखेरता है, यदि ऐसा दोष-दर्शन रहा, तो उससे हमें स्वार्थ से ऊपर उठकर जीवन के उच्चतर मूल्यों की ओर उन्मुख होने में सहायता मिलती है। हम दोष-दर्शन तो करें, पर सही सन्दर्भों में। ❑❑❑

धनुष-यज्ञ का तात्पर्य (४/२)

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(आश्रम द्वारा जनवरी २००२ ई. में आयोजित विवेकानन्द-जयन्ती-समारोह के समय पण्डितजी ने 'धनुष-यज्ञ' पर ७ प्रवचन दिये थे। प्रस्तुत लेख उसके चौथे प्रवचन का उत्तरार्ध है। टेप से इसे लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर के सेवानिवृत्त प्राध्यापक श्री राजेन्द्र तिवारी ने किया है। – सं.)

जीव के जीवत्व में स्थित रहने तक उसमें अभिमान होना अवश्यम्भावी है। इस अभिमान के तीन रूप हैं – तामसिक, राजसिक और सात्त्विक। यह समर्पण का तृतीय सोपान है।

यहाँ जो धनुष रखा हुआ है, वह शंकर जी का है। इस धनुष के इतिहास को समझने के लिए श्रीमद्-भागवत के इस प्रसंग को जानना होगा। उस समय त्रिपुर नाम का एक बड़ा शक्तिशाली और विलक्षण दैत्य था। तीन पुरों में निवास करनेवाला यह असुर बड़ा विलक्षण था। जब किसी एक पुर पर आक्रमण होता था, तो दूसरे में चला जाता था। इसका परिणाम यह होता कि उसकी मृत्यु नहीं होती थी। इसलिए इस त्रिपुरासुर का विनाश कोई कर ही नहीं पा रहा था।

वह त्रिपुरासुर प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में विद्यमान है। वहाँ पर कहा गया है कि इस त्रिपुर में एक पुर लोहे का था, दूसरा चाँदी का और तीसरा सोने का था। हमारे अन्त:करण में जो तीन पुर हैं, वे हैं काम, क्रोध और लोभ। जब आप इन तीनों पुरों पर विजय पाने का प्रयास करते हैं, तो क्या दिखाई देता है? व्यक्ति के जीवन में ये तीनों पुर एक साथ कभी दिखाई नहीं देते। मन जब कामपुर में रहता है, तो वहाँ क्रोध और लोभ का पुर दिखाई नहीं देता। और जब हम काम पर विजय पाने की चेष्टा करते हैं, तो यह मनरूपी त्रिपुरासुर तत्काल काम के पुर को छोड़कर क्रोध अथवा लोभ के पुर में पैठ जाता है और थोड़ी देर के लिए हमें ऐसा लगता है कि हमने काम पर विजय पा लिया है। पर दिखाई देता है कि जीवन में लोभ बढ़ गया है। उस पर विजय पाने की चेष्टा करे तो मन तुरन्त क्रोध या काम के पुर में पैठ जाता है। इस प्रकार व्यक्ति के द्वारा उस त्रिपुरासुर का विनाश कभी नहीं हो पाता। अन्त में ब्रह्मा के द्वारा यह ज्ञात हुआ कि इस दैत्य का विनाश तो भगवान शंकर के द्वारा ही होगा। उस समय इस दैत्य का वध करने के लिए एक धनुष का निर्माण किया गया। श्रीमद् भागवत में वर्णन किया गया है कि वह धनुष कैसे बनाया गया। कितने दिव्य तत्त्व, पवित्र दान, तपस्या, साधन – सबको एकत्रित करके, वैदिक ऋचाओं से पूरित करके, उस धनुष का निर्माण किया गया। इसका अभिप्राय यह है कि उस परम सात्त्विक स्थिति में, व्यक्ति समस्त वेद, शास्त्र आदि के आश्रय में, अहंकाररहित होकर त्रिपुरासुर पर प्रहार करे, तभी उसका विनाश सम्भव है। भगवान शिव में द्वैत-मूलक अहंकार नहीं है। उन्होंने तो लोक-कल्याण हेतु ही इस त्रिपुरासुर का विनाश किया। महाराज जनक की सभा में रखा हुआ जो धनुष है, यह वही धनुष है।

भगवान शंकर ने यह धनुष महाराज जनक को दिया था और जनक जी इस धनुष की पूजा करते थे। कितनी उपयोगी बात है। **अभिमान का त्याग करना है, पर सात्त्विक अभिमान की पूजा भी आवश्यक है।** सात्त्विक अभिमान की पूजा का अर्थ है कि सात्त्विक अभिमान के द्वारा लोगों के अन्त:करण में सत्कर्म की प्रेरणा जाग्रत हो। इसीलिए भगवान श्रीकृष्ण गीता में कहते हैं – यज्ञरूप तप आदि साधनों को त्यागना नहीं चाहिए। इसका अभिप्राय यह है कि सत्कर्म करने के लिए, त्याग-तपस्या आदि करने के लिए भी तो व्यक्ति में अहंकार की आवश्यकता है और सात्त्विक अहंकार व्यक्ति का वैशिष्ट्य है, इसकी पूजा करना कर्तव्य है। सात्त्विक अहंकार वाला व्यक्ति किसी से छीनता तो नहीं, किसी को पीड़ा तो नहीं पहुँचाता, कष्ट तो नहीं देता। ऐसे सात्त्विक अहंकार की यदि पूजा न हो, तो समाज में उसके प्रति महत्त्व-बुद्धि नहीं रह जायगी, उसका आदर-सम्मान नहीं रह जायगा। इसलिए सात्त्विक अहंकार की पूजा करना समाज का कर्तव्य है। भगवान कहते हैं – इसका परित्याग तो मनीषी भी न करे। यह समाज के लिए हितकर है, पूज्य है, आवश्यक है।

मेरे एक परिचित सज्जन ने एक दिन मुझे एक व्यंग्यात्मक गाथा सुनाई। एक व्यक्ति बड़े कृपण थे, कथा में भी आते थे। वे चन्दा, दान, भेंट आदि कभी नहीं देते थे। बहुत-से लोगों को देते देखकर उन्हें लगा कि चलो मैं भी लोगों को दिखाने मात्र के लिए कुछ दे दूँ। एक आयोजन हुआ, उसमें उन्होंने तीस लाख का चेक दे दिया। अब तो देखनेवालों की आँखें फटी-की-फटी रह गईं – "अरे, इतने कृपण थे, एक दिन में इतने उदार हो गये! इन पर तो कथा का बहुत अच्छा प्रभाव पड़ा। येन केन दीन्हे करै दान परम कल्याण।"

घोषणा सुनकर सब लोग बड़े प्रसन्न हुए ताली बजाई। पर जब उस चेक को बैंक भेजा गया तो वहाँ के खजांची ने

कहा कि इसमें तो हस्ताक्षर ही नहीं है। सोचे – सेठजी शायद भूल गये होंगे। लौटकर आए और उनसे कहा – आप तो हस्ताक्षर करना ही भूल गये। उन्होंने कहा – भूल नहीं गये, आप लोगों ने कथा अधूरी सुनी, पर मैंने पूरी सुनी। – क्या? बोले – "मनुष्य सत्कर्म करे पर अभिमान न आने दे। नाम देने से तो अभिमान आ जायेगा। इसलिए मैंने अभिमान के त्याग के लिए हस्ताक्षर नहीं किया।" अब यदि ऐसा अभिमान-त्याग हो तो कहना ही क्या?

सात्त्विक अभिमान को समाज में सम्मान मिलना चाहिए, पूजा मिलनी चाहिए। ऐसा न होने पर तो राजसी अहंकार विजयी होगा, तामसिक अहंकार आगे बढ़कर सफलता प्राप्त कर लेगा। लेकिन भगवान शिव ने क्या किया? अन्त में इस सात्त्विक अहंकार को भी तो छोड़ना है। दूसरे लोग आपकी पूजा करें, प्रशंसा करें, यह तो उनका कर्तव्य है, लेकिन यदि आप भी स्वयं को विशिष्ट मानने की भूल कर बैठें, तब तो अनर्थ हो जाएगा। सात्त्विक अभिमान के नाते लोग हमारा सम्मान करें, यह तो उनका कर्तव्य है, पर उसे सत्य मानकर यदि हम स्वयं ही अपना गुणगान करने लगें, तो यह मानो ऊपर से नीचे की ओर जाने की वृत्ति है। अत: भगवान शंकर द्वारा धनुष का त्याग उनकी महानता है। धनुष को, सद्‌गुणों के अभिमान को छोड़ पाना बड़ा कठिन कार्य है।

अर्जुन के चरित्र में अनेक गुण हैं। उन्होंने भगवान से समर्पण का तत्वज्ञान सुना, परन्तु सुनने भर से क्या होता है, लोग तो जीवन भर सुनते हैं ! जब भगवान श्रीकृष्ण ने लीला -संवरण कर लिया, तब पाँचों पाण्डवों और दौपदी ने भी निर्णय लिया कि अब हमें भी शरीर को त्याग देना चाहिए और दौपदी के साथ पाँचो पाण्डवों ने हिमालय की ओर जाकर उत्तराखण्ड में शरीर त्यागने का संकल्प किया। सोचिये, जो शरीर का त्याग करने जा रहे हैं, हिमालय में शरीर गलाने जा रहे हैं, उनकी वृत्ति, उनका संकल्प कितना दृढ़ होगा ! उन्होंने अपने सारे राजसिक वस्त्राभूषण उतार दिए, मुकुट उतार दिए और चल पड़े। अर्जुन ने भी राजवेश का त्याग किया, पर धनुष नहीं छोड़ा। आश्चर्य है, सब कुछ छोड़ दिया, पर धनुष क्यों नहीं छोड़ रहे हैं, उसे क्यों ले जा रहे हैं? यही अभिमान का संस्कार है। अर्जुन ने सोचा कि हम लोग सब कुछ त्यागकर जा रहे हैं और लोगों ने सुना भी है, पर पहचानेंगे कैसे कि इनमें महाभारत का महान् विजेता गाण्डीवधारी अर्जुन कौन है ! यह बड़ी कठिनाई है। मेरी तो कोई विशेष पहचान होनी चाहिए। सब कुछ त्यागने के बाद भी यह वासना तो रही जाती है कि लोग हमें त्यागी कहें –

कोउ भल कहउ, देउ कछु,
असि बासना न उरते जाई ।। (विनय ११९/२)

एक नेताजी सब घर-परिवार, पद-प्रतिष्ठा छोड़कर संन्यासी हो गये। पहले वे राजनीति में थे और कभी एम.एल.ए. भी रह चुके थे। बड़े प्रभावशाली थे। संन्यास ले लिया, तो लगा – हम तो बहुत बड़े त्यागी हैं। जब कभी घोषणा की जाती कि उनका भाषण होनेवाला है, तो वे यह कहना नहीं भूलते थे कि परिचय में कहना – भूतपूर्व एम.एल.ए.। तात्पर्य यह कि जैसे लोग साधु हो जाते हैं, मुझे भी लोग कहीं वैसा ही न समझ लें। मैं वैसा नहीं हूँ।

अर्जुन की इस दुर्बलता में एक बड़ी सुन्दर सांकेतिक बात है। अग्निदेव ने अर्जुन को गाण्डीव धनुष दिया था। जब पाण्डव जा रहे थे, तो अग्निदेव सामने आ गये और अर्जुन से बोले – "अब इस धनुष को लेकर कहाँ जा रहे हो। इसका काम तो पूरा हो गया; लाओ, मुझे लौटा दो।" और अर्जुन ने क्या धनुष को लौटाया? नहीं, वह छीन लिया गया।

याद रखिए, आप सीधे नहीं देंगे तो आपको जो मिला है उसे अग्नि देवता अन्त में छीन ही लेंगे। अग्निदेव तो सब के सामने आते हैं और उसका तात्पर्य है कि अब काम पूरा हो गया। काम पूरा हो गया, फिर भी तुम पकड़े हुए हो, छोड़ने के लिए तैयार नहीं हो, कहते हो मेरा है। अब तुम्हारा कैसा, यह घर तुम्हारा है क्या? यदि तुम्हारा होता, तो तुम्हें बाहर क्यों निकाला जाता? यदि तुम्हारा होता, तो सारी वस्तुएँ तुमसे अलग क्यों कर ली जातीं? इसलिए गोस्वामी जी कहते है कि भाई, जब वह दशा आना निश्चित है, तो क्यों न अभी से त्याग दो ! अन्त में तुम चाहे कुछ भी करो –

अंतहूँ तोहि तजैंगे पामर !
तू न तजै अबही ते ।। विनय. १९८/३

अत: पहले से ही उसे मन से निकाल दो, मन से त्याग दो, उस पर अधिकार की वृत्ति छोड़ दो। इसका अभिप्राय यह है कि व्यक्ति के लिए यह बड़ा कठिन है। श्रेष्ठ-से-श्रेष्ठ व्यक्ति होते हुए भी त्यागी-तपस्वी होते हुए भी, उसके लिए 'मैं' को छोड़ना बड़ा कठिन होता है। लेकिन भगवान शिव का तो कहना ही क्या है, वे परम कृपामय, परम कल्याणमय, साक्षात् ईश्वर हैं, इसलिए उन्होंने उस धनुष को त्याग दिया।

अब महाराज जनक उस धनुष का पूजन करते हैं, इसका क्या तात्पर्य हैं? इसका अभिप्राय यह है कि जिस सात्त्विक अभिमान के द्वारा त्रिपुरासुर का विनाश हुआ है, उसकी पूजा करना तो परम कलयाणकारी है। लेकिन फिर वही गीतावाला सूत्र ! वेदों में अनेक प्रकार के यज्ञों का वर्णन है। संकेत के रूप में तमोगुणी यज्ञ की बात है। महाभारत में कथा है कि द्रुपद ने यज्ञ किया, जिसका उद्देश्य था कि यज्ञकुण्ड से ऐसे पुत्र का जन्म हो, जो हमारे मित्र कहलानेवाले द्रोणाचार्य से बदला ले। मंत्र के द्वारा, यज्ञ के द्वारा यह भी सम्भव है। व्यक्ति यदि मंत्रों का दुरुपयोग करे, तो वेदों में ऐसे अभिचार के भी मंत्र मिल सकते हैं। रजोगुणी कामनापूर्ति वाले मंत्र भी

मिल सकते हैं और सात्त्विक कर्मकाण्ड के भी। अन्त में इन मंत्रों से हटकर ज्ञानमय उपनिषदों के रूप में इन तीनों गुणों के परे भी जाना चाहिए, जिसे गीता में भगवान संकेत के रूप में कहते हैं – अब सात्त्विक अभिमान का उद्देश्य भी समाप्त हो गया और निस्त्रैगुण्य होने का समय आ गया –

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन। २/४५

महाराज जनक की प्रतिज्ञा का अर्थ क्या है? वही सूत्र है, यह भी तो काल से सम्बन्धित है। आप कोई भी कार्य करते हैं, सफलता प्राप्त करते हैं, तो उसे भूलते नहीं, बताते रहते हैं कि मैंने यह किया, वह किया। पर आप काल को जान लें तो अभिमान नष्ट हो जायेगा। परशुराम जी से जो वार्तालाप हुआ, उसमें उन्होंने भगवान राम से यही कहा कि तुम्हारी बातों से तो ऐसा लगा कि तुम बड़े विनम्र हो, पर ऐसा कैसे हो सकता है! मैं समझता था कि तुम अयोध्या के राजकुमार हो, विश्वामित्र के शिष्य हो, तुममें अभिमान नहीं है, पर जब पता चला कि तुमने धनुष तोड़ा है, तो यह कैसे हो सकता है कि इतना बड़ा कार्य करने पर भी अभिमान न हो –

भंजेउ चापु दापु बड़ बाढ़ा।
अहमिति मनहुँ जीति जगु ठाढ़ा।। १/२८३/६

तुम देखने में छोटे हो पर तुम्हें देखकर ऐसा लग रहा है जैसे अहंकार संसार को जीत कर खड़ा है। श्रीराम के सामने तो यह प्रश्न नहीं है। लक्ष्मण जी ने कहा – महाराज, प्रभु ने अगर धनुष तोड़ा होता, तब न अभिमान होता! यह कोई साधारण तू-तू मैं-मैं नहीं है। परशुराम जी कहते है – धनुष तोड़ने के बाद अभिमान कैसे नहीं होगा। और लक्ष्मण जी कहते हैं – महाराज, धनुष को इन्होंने थोड़े ही तोड़ा। – तब? वे बोले – वह तो छूते ही टूट गया –

छुअत टूट रघुपतिहु न दोसू। १/२७२/३

तोड़ने की कोई चेष्टा नहीं हुई। सुनकर परशुराम जी को क्रोध आ गया। बोले – "कितना ढीठ है, इतने महान् धनुष को कहता है – छूते ही टूट गया। हमारे गुरुजी का धनुष ...।" मानो गुरुजी का चेला धनुष और गुरुजी के चेले परशुराम जी। गुरुजी के चेले धनुष को राजकुमार ने तोड़ दिया। भगवान ने कितनी मधुर बात कही और संकेत की भाषा में कही। बोले – महाराज, भगवान शंकर इतने महान् हैं, क्या आप यह मानते हैं कि कोई अपनी सामर्थ्य से भगवान शंकर के धनुष को तोड़ सकता है? अगर तोड़ दिया, तब तो वह बड़ा हो गया और शंकरजी छोटे हो गये। इसलिए भगवान राम ने पहला वाक्य यही कहा – शंकर जी के धनुष को तोड़नेवाला तो उनके दास-का-दास ही होगा –

नाथ संभुधनु भंजनिहारा।
होइहि केउ एक दास तुम्हारा।। १/२७१/१

सारे संसार के राजा अपने अपने अहंकार को लेकर उस महान् अहं पर विजय पाने की चेष्टा करते हैं। और भगवान शंकर समष्टि अहंकार के देवता हैं। गोस्वामी जी से किसी ने पूछा – "श्रीराम धनुष के पास गए और वह टूट कैसे गया? दस हजार राजा मिलकर जिसे उठा नहीं पा रहे थे, वह अपने आप कैसे टूट गया?" गोस्वामी जी ने कहा – शंकरजी का शिष्य था न। शंकरजी गुरु हैं धनुष के भी और परशुराम जी के भी। लक्ष्मण जी ने व्यंग्य किया – महाराज, रुष्ट क्यों हो रहे हैं? बोले – मेरे गुरुजी का धनुष है। – "गुरुजी का धनुष है, तो उन्हीं को क्रोध आना चाहिए कि मेरे धनुष को किसने तोड़ा? पर कैलाश में जाकर देखिए, कहीं क्रोध दिखाई नहीं दे रहा है। – क्यों? बोले – किसी ने उनसे कहा भी कि आपका धनुष तोड़ दिया गया, तो हँसने लगे। – क्यों? बोले – जब मैंने जनक को दे दिया, तो वह मेरा रह कहाँ गया! ऐसा होता है कि किसी मोहल्ले का, सड़क का पहले कोई नाम पड़ जाता है और बाद में बदल जाता है, तो भी लोग पुराना नाम ही लेते रहते हैं। भगवान शंकर ने कहा कि वह तो जनक का धनुष था।

लक्ष्मण जी बोले – महाराज, धनुष को जब भगवान शंकर ने जनक को दे दिया, तो वह उन्हीं का धनुष हो गया। अब यह कितनी बड़ी विडम्बना है! लक्ष्मण जी हँसने लगे, बोले – "आज दो महापुरुषों का दर्शन हुआ, एक महानतम ज्ञानी जनक और एक महानतम आप। लेकिन विचित्र बात यह है कि आप दोनों की मान्यताएँ अलग अलग हैं। उनको क्रोध इसलिए आ रहा था कि धनुष क्यों नहीं टूट रहा है और आपको क्रोध आ रहा है कि धनुष क्यों टूट गया। अब बताइए क्या करना चाहिए? एक कहता है – टूटे और दूसरा कहता है – न टूटे।"

इसका अभिप्राय है कि आपको लगा कि धनुष टूटने से हानि हो गई और उनको लगा कि इसमें लाभ है। और जिनके द्वारा आप टूटने की कल्पना कर रहे हैं, उनके लिए न तो लाभ है और न हानि। यदि ऐसा होता कि धनुष टूटने के बाद सीताजी मिलेंगी, तब तो लाभ होता और न टूटता तो हानि होती। पर लाभ और हानि की कल्पना तो आप दोनों ने कर ली है। 'कवितावली' रामायण में लक्ष्मण जी ने कहा –

रावरी पिनाक में सरीकता कहाँ रही।। १/१९

जब साझेदारी में कोई काम होता है और एक साझेदार को लाभ होता है, तो दूसरे को चिन्ता होती है। लक्ष्मण जी ने परशुराम जी से पूछा – "महाराज, आपको क्रोध क्यों आ रहा है? कहीं आपकी इस धनुष से कोई साझेदारी तो नहीं थी? कहीं साझेदारी में आपको ऐसा तो नहीं लगा कि हमारा नुकसान हो गया? जिन्होंने दिया वे तो प्रसन्न हैं और आप, कोई साझा न होते हुए भी व्यर्थ ही कष्ट पा रहे हैं।"

गोस्वामी जी ने एक बड़ी मधुर बात कही है – धनुष तो

शंकरजी का शिष्य था। एक दिन धनुष ने भगवान शंकर से कहा – "महाराज, लोग कहते हैं कि आप मुक्तिदाता हैं। आप संसार के मुक्तिदाता होंगे, पर मुझे तो आप बन्धन में बाँधते है।" – कैसे? धनुष पर जब आप बाण चलाते हैं तो धनुष को बाँधे बिना तो बाण चलता नहीं। धनुष को झुकाया जायेगा, दोनों किनारों को डोरी से बाँधा जायेगा और तब उस पर बाण रखकर चलाया जायेगा। "तो महाराज, मै तो आपके द्वारा नित्य बाँधा जाता हूँ। आप मुक्तिदाता हैं, इसका प्रमाण मैं कैसे पाऊँ?" शंकरजी ने कहा – घबराओ मत, जब भगवान का दर्शन होगा, तो तुम टूट जाओगे और उसके बाद बँधना भी छूट जायेगा। टूटने का यह कार्य अन्य किसी के द्वारा नहीं हो सकता। इसलिए तो गोस्वामी जी ने कहा कि जब भगवान राम धनुष के पास पहुँचे, तो धनुष ऐसा उठ गया मानो शंकरजी ने उसे बचपन से यही पाठ पढ़ाया हो –

टूट्यो मानो बारे ते पुरारि ही पढ़ायो है।। क. १/१०

लक्ष्मण जी ने कहा – महाराज, आप दोनों ने लाभ-हानि की मानसिक कल्पना कर ली, पर इसमें न तो लाभ है और न हानि। परशुराम जी ने कहा – यह लड़का तो बड़ा ढीठ है। पर भगवान बोले – "बहुत अच्छी बात कही, हमारे-आपके काम की है। महाराज, मुझे अभिमान हो सकता था।" – कैसे हो सकता था? – जब आपको सफलता अपनी जान पड़ेगी कि यह मैंने किया, तो अभिमान आए बिना नहीं रहेगा? पर महाराज, यदि धनुष तोड़ने की इच्छा मेरी हुई होती, तो मैं आकर धनुष तोड़ देता। पर वह तो गुरुजी का आदेश था। और गुरुजी ने आदेश कब दिया? – उचित समय, उसके विनाश का समय देखकर दिया था –

बिस्वामित्र समय सुभ जानी। १/२५४/५

बाकी लोग पहले पहुँचे, अत: नहीं टूटा और मेरे पहुँचने पर टूटने का समय आ गया था, अत: छूते ही टूट गया, तो फिर मैं किस बात का अभिमान करूँ –

छुअतहिं टूट पिनाक पुराना। १/२८३/८

बस, इस सत्य को समझ लीजिए कि समय ने आपको सफल बना दिया। **जब सफलता मिले, तो याद कर लीजिए कि सफलता आपकी नहीं, समय की है**। समय ही ऐसा आ गया था कि आप ऊँचे उठ गये, सफल हो गये। हम समय को महत्त्व देना भूल जाते हैं।

इसके बाद भी परशुराम जी शान्त नहीं हुए, बल्कि और भी क्रोधित हो उठे। लक्ष्मण जी जब उन्हें उत्तर देने लगे, तो लगता है मानो वे परशुराम जी को क्रोध दिला रहे हों, पर वे तो ज्ञान की भाषा बोल रहे थे। अन्त में परशुराम जी ने फरसा उठा लिया और बोले – "ठीक है, मैं तुम्हें उत्तर देता हूँ। मैं इक्कीस बार इस फरसे के द्वारा पृथ्वी भर के क्षत्रियों का संहार कर चुका हूँ।" पर आज क्या हो गया कि फरसा चल ही नहीं रहा है। लक्ष्मण जी मुस्कुराते हुए बोले – "महाराज, आप फरसे को चलाते थे या फरसा आपको चला रहा था? इक्कीस बार आपने क्षत्रिय-जाति को काट डाला, परन्तु आज सामने खड़े एक क्षत्रिय कुमार को नहीं काट पा रहे हैं। वह समय था, समय ने आपसे वैसा करा लिया। आपने किया – यही मानना तो भूल है।" यदि हम यह मंत्र सीख लें तो जीवन की एक बहुत बड़ी समस्या से मुक्त हो जायेंगे।

भगवान राम ने कहा – महाराज, मैं कौन होता हूँ तोड़ने वाला! आप ऐसे समय में किसी किले को देखने पहुँच जायँ जब किले का दीवार गिरने ही वाली हो। समय धीरे धीरे बीतने पर कभी-न-कभी वह दीवार गिरेगी ही। संयोग से आप उस समय पहुँचे जब किले की दीवार गिरने ही वाली थी। आपने छुआ और किले की दीवार ढह गई। अब यदि आप अखबार में छपवाएँ कि मैं तो किले की दीवार को अपने हाथ से गिरा देता हूँ, तो यह तो पागलपन है। भगवान ने कहा – महाराज, धनुष के टूटने का एक समय था, समय ने वह कार्य करा लिया। व्यक्ति जब यह सत्य जान लेता है, तब वह अभिमान से मुक्त हो जाता है –

छुअतहिं टूट पिनाक पुराना।
मैं केहि हेतु करौं अभिमाना।। १/२८३/८

व्यक्ति अभिमान तभी करता है, जब विचारशून्य हो जाता है। पर एक बार यदि सत्य पर दृष्टि चली जाय, तो अभिमान हट जायेगा। इस काल के सत्य को जान लेना ही अभिमान से मुक्त होने का एकमात्र उपाय है। यदि हम सफल हैं, तो वह समय का, काल का सत्य है और इन सबके पीछे परम प्रेरक ईश्वर हैं। अत: जब यह वृत्ति आ गई कि सबके पीछे वे ही हैं, तब 'मैंने यह किया' कहने की प्रवृत्ति दूर हो जाती है।

इस प्रकार महाराज जनक ने जिस सात्त्विक अहंकार की पूजा की, आज उसके विनष्ट होने का समय आ गया। व्यक्ति का अहंकार यदि व्यक्ति नष्ट कर दे, तो क्रोध आ जायेगा, पर स्वयं भगवान के करकमलों से टूटने में तो चरम परिणति है। जब धनुष उठा और टूटकर गिर गया, तो किसी ने धनुष से पूछा – "देखो, इतने दिनों तक शंकर जी के पास रहे, इतने दिनों तक जनक जी ने पूजन किया और अन्त में तुम टूटकर नीचे पड़े हुए हो। क्या यही तुम्हारी परिणति है?"

धनुष ने कहा – अरे, ऊपर थे तो अभिमान था और नीचे गिरे तो भगवान ने अपने चरणों में स्थान दे दिया। चरण में आ गये तो गिरे कहाँ, यही तो सही अर्थों में उठना है। जब उठे हुए दिखाई दे रहे थे, तो वह नकली था और जब गिरे तो प्रभु के चरणों में गिरे – प्रभु ने अपने चरणों में ले लिया। प्रभु के चरणों में पहुँच जाना – यही तो जीवन का चरम लक्ष्य है। इसमें मानो हमारा अहं समर्पित हो जाता है।

शेष अगले पृष्ठ पर

आत्माराम की आत्मकथा (३)

स्वामी जपानन्द

(रामकृष्ण संघ के एक वरिष्ठ संन्यासी स्वामी जपानन्द जी ने भक्तों के आन्तरिक अनुरोध पर बँगला भाषा में 'आत्माराम की आत्मकथा' नाम से श्रीरामकृष्ण के कुछ शिष्यों के तथा अपने जीवन के भी कुछ प्रेरक तथा रोचक संस्मरण लिपिबद्ध किये थे, जिनका डॉ डी. भट्टाचार्य ने हिन्दी में अनुवाद किया था। इसकी पाण्डुलिपि हमें श्रीरामकृष्ण कुटीर, बीकानेर के सौजन्य से प्राप्त हुई है। इनमें अनेक बहुमूल्य जानकारियों तथा घटनाओं का समावेश होने के कारण 'विवेक-ज्योति' के पाठकों के लाभार्थ हम इनका धारावाहिक प्रकाशन कर रहे हैं। – सं.)

मेरी धर्म-माँ

इसके साथ ही मेरी धर्म-माँ का परिचय जान लेना अच्छा होगा। उनके स्नेह का प्रतिदान मैं आज तक नहीं दे सका। स्वर्गीय श्री सेन महाशय की मँझली पुत्री और श्री राय की धर्मपत्नी – मेरी माँ हैं। इनसे मेरा पहला परिचय १९०८-०९ ई. में कलकत्ते में हुआ। मेरी धर्म-माँ की आयु उस समय काफी कम थी। किसी अज्ञात प्रेरणा से स्नेहपूर्वक वे मेरी ओर आकृष्ट हुई। मेरे सिर में कोई तकलीफ थी। उस समय वे सेरों चन्दन घिसकर बड़े स्नेह के साथ मेरे सिर पर लगा देतीं और कभी कभी पंखा लेकर सिर पर हवा करतीं। उस समय सूर्योदय से लेकर सूर्यास्त तक मेरे सिर में बड़ा दर्द हुआ करता था। उनकी सेवा, मातृभाव की प्रतिमूर्ति-स्वरूप उनका अत्यधिक स्नेह और उनका अपनत्व के साथ – 'बेटा, मेरे स्नेह के धन' – कहना देखकर मेरे मन में अपनी गर्भधारिणी माँ की स्मृति उदय होती और मैं शोक व आनन्द से अभिभूत हो जाता। मेरे मुख से कोई शब्द नहीं निकलता और आँखों से अश्रुधारा बहती।

वे दिन मैं जीवन में कभी नहीं भूलूँगा। आयु में वे तनिक छोटी थीं। उनको देखकर कभी नहीं लगता कि वे अविवाहित हैं और मातृरूप के उपयुक्त नहीं हैं। उनका स्वभाव गम्भीर था और उनकी दृष्टि में मातृत्व की कुंजी थी। हे जगदम्बा, तुम सचमुच ही मातृभाव से सभी स्त्रियों में विराजमान हो – संसार तुम्हारे उस प्रकाश से मोहित है!

उसी वर्ष उनकी रामकृष्ण संघ की परम पूजनीया माता ठकुरानी श्रीमाँ सारदादेवी का दर्शन करने की प्रबल इच्छा हुई। श्रीमाँ उस समय उद्बोधन में विराजती थीं। १९०८ ई. से ही मेरा मठ के बड़े महाराज लोगों – विशेषकर पूजनीय बाबूराम महाराज (स्वामी प्रेमानन्द जी) के साथ परिचय था। सन् १९१० ई. से प्राय: हर शनिवार को मैं मठ जाता और संध्या को लौट आता।

सन् १९१३-१९१४ ई. से शनिवार को मठ में रहकर, रविवार के दोपहर को बड़ी माँ के पास भोजन करने जाता। श्रीमाँ के दर्शन भी पहले कई बार हुए थे। शायद १९१३ ई. में दुर्गापूजा के समय श्रीमाँ बेलूड़ मठ के पास के उद्यान में थीं। दशमी के रात को वहाँ बहुत लोगों की भीड़ थी। और सबके एक साथ श्रीमाँ के चरण-स्पर्श करने की चेष्टा से उन्हें बड़ा कष्ट हो रहा था। यह देखकर पूजनीय शरत् महाराज मुझे लेकर एक दरवाजे पर और पू. कृष्णलाल महाराज दूसरे दरवाजे पर भीड़ रोकने की चेष्टा करने लगे। यह एक बार ही उनके द्वारपाल का काम करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था।

मेरी धर्म-माँ मुझसे श्रीमाँ के पास ले जाने के लिए कहने लगीं। जब उनके जाने का दिन निश्चित हुआ, तो मुझे याद

पिछले पृष्ठ का शेषांश

अन्त में परशुराम जी ने अपना धनुष भगवान श्रीराम को समर्पित कर दिया। **समर्पण की यह प्रक्रिया महाराज दशरथ से शुरू हुई, विश्वामित्र, महाराज जनक और अन्त में परशुराम जी से इसका समापन हुआ।** इस प्रकार जब जीवन में समर्पण का तत्त्व आता है और अन्त में जब यह अभिमान भी नहीं रह जाता कि 'मैं समर्पण-कर्ता हूँ' – तो समझ लीजिए कि हमारे जीवन में भक्ति-भगवान का मिलन हो गया।

माया और ईश्वर का जो खेल है, उसके रहस्य को जानने वाला कौन है? माया को जनना असम्भव है। पर गोस्वामी जी ने कहा कि एक उपाय है। यदि आप जादूगर का जादू देखने जायें, तो उसका जादू आपको समझ में नहीं आएगा। बुद्धिमान लोग भी चकरा जाते हैं। परन्तु वहीं एक छोटा-सा बच्चा बैठा हँस रहा है। किसी ने कहा – इतने लोग सोच रहे हैं, किसी की समझ में नहीं आ रहा है, तुम क्यों हँस रहे हो? वह बोला – मैं जादूगर का चेला हूँ। मुझे पहले से पता है कि यह सब कैसे होता है। बस इतना ही तो रहस्य है।

नटकृत बिकट कपट खगराया।
नट सेवकहि न ब्यापइ माया ।। ७/१०४/८

जादूगर का छोटा बच्चा भी जानता है – अच्छा, ऐसा खेल चल रहा है! बड़ा प्रसन्न हो रहा है – "वाह गुरुजी, क्या चक्कर में डाला कि सबको भ्रमित कर दिया! मैं भ्रम को भी देख रहा हूँ और जैसे भ्रम दिखाया जाता है, वह भी देख रहा हूँ।" वह है सत्य को जान चुका व्यक्ति! ❖**(क्रमश:)**❖

नहीं कि किस कारण उनके साथ मेरा जाना नहीं हो सका था। वे छोटे मास्टर को अपने साथ ले गईं। श्रीमाँ ने उन्हें देखते ही कहा, "यह किसकी लड़की है, बड़ा सुन्दर भाव है। तुम अमुक दिन आना, तुम्हें दीक्षा दूँगी।" माँ का यह बड़ा आश्चर्यजनक दान हुआ। गोलाप-माँ व योगीन माँ ने यह कहकर इस दीक्षा का विरोध किया कि मेरी धर्म-माँ विवाहित नहीं थीं और कुमारी को दीक्षा देना ठीक नहीं होगा। मुझे ज्ञात नहीं कि यह किस शास्त्र में लिखा हुआ है। श्रीमाँ ने भी उनकी मनाही को स्वीकार न करते हुए कहा – "इसमें कोई दोष नहीं, तुम आना तुम्हें दीक्षा दूँगी।" मेरी धर्म-माँ ने निर्धारित दिन और समय पर जाकर श्रीमाँ से दीक्षा ली और उनकी कृपापात्री होकर स्वयं को धन्य समझा।

मेरे जीवन का उद्देश्य था – ब्रह्मचारी रहना और त्यागाश्रम या संन्यास लेना। मेरी धर्म-माँ की भी प्रबल इच्छा थी कि दीक्षा लेने के बाद वे आजीवन कुमारी रहें और भगवन्नाम का स्मरण करते हुए अपना जीवन व्यतीत करें।

वे काफी दिनों से विवाह-योग्य हुई थीं और घर के बाकी सब लोग चिन्तित हुए कि अब यदि धर्म से आकृष्ट होकर रामकृष्ण संघ में चली जाये, तो बड़ी मुश्किल होगी। मैंने भी उस समय रामकृष्ण संघ के महाराज के पास संन्यास लेने का निश्चय किया था। माँ की वृद्धा दादी तथा माँ मुझसे नित्य ही कहा करते – "तुम कहो कि शादी कर ले, रोज ही सम्बन्ध आ रहे हैं, तुम्हारे कहने से जरूर राजी हो जाएगी, क्योंकि तुम पर बड़ी ममता है।" मैं उत्तर देता – "एक तो मुझे खुद को विवाह करने की इच्छा नहीं है, मैं कैसे उनको विवाह करने के लिए कहूँ। और किसी को यदि ऐसी माँ मिलने का सौभाग्य हो, तो वह कभी उसे खोने के लिए राजी नहीं होगा। आप लोग ही उनसे कहें।"

पता नहीं दूसरो को यह बात कैसी लगेगी, परन्तु वास्तव में घटना इस प्रकार अद्भुत रूप में हुई थी। माँ की दादी कहने लगीं – "दीक्षा से ही सर्वनाश हुआ है। हमारे परिवार में कभी ऐसी लड़की नहीं हुई। माँ-बाप का और गुरुजनों का कहना न मानना और अपनी स्वेच्छा से ही चलना! सबके मना करने पर भी दीक्षा ले आई। हमारे कुलगुरु हैं, हम लोगों के समान यह भी उन्हीं से दीक्षा ले सकती थी और फिर इतनी जल्दी भी क्या थी! विवाह होता, बाल-बच्चे होते, उसके बाद ही दीक्षा लेनी चाहिए थी।" और दादी के मन में यह बात दृढ़तापूर्वक बैठ गई थी कि मैं ही इसका मूल कारण हूँ और मौका मिलते ही वे ऐसा कहा करतीं।

मैंने देखा मेरे कारण माँ को बड़ा कष्ट हो रहा है – उन्होंने दादी के साथ बातें करना बन्द कर दिया था और अधिकांश समय पूजा तथा ध्यान में बिताती थीं। आवेश में आकर एक दिन उन्होंने दादी से कह दिया – "खबरदार, जो किसी ने मेरे बेटे के विरुद्ध कुछ कहा! जिसे जो कुछ कहना हो, मुझको कहे। यह बात सुनकर मुझे चिन्ता हुई और एक उपाय भी सूझा। उस दिन छोटे मास्टर ने भी मुझसे कहा था – "कोई उपाय ढूँढ़ो, शान्ति नहीं है, कुछ कर न बैठे।" मेरे मन में भी भय जन्मा – यदि आत्महत्या कर ले तो? इस भय का दूसरा भी कारण था – वे कभी कभी कहा करतीं – "देखो, स्त्री के जीवन में कोई स्वाधीनता नहीं और न ही वह किसी अच्छे काम में आ पाती है। इस शरीर में बन्धन के सिवाय और कुछ नहीं है। तुम्हें बुला रही हूँ और तुम नहीं आते। कुछ खाने की चीज लेकर मैं तुम्हारी राह देख रही हूँ, बड़ा क्रोध आ रहा है, इच्छा हो रही है कि तुम्हें डाँटकर घर से पकड़ लाऊँ। लोग कुछ कहें तो कहने दो, लेकिन सड़क पर नहीं निकल सकती। यही है समाज का बन्धन। लक्ष्मी-नारायण, तुम यदि ठीक समय पर आ जाओ, तो तुमको बुलवाने के लिए मुझे किसी को भेजने की जरूरत नहीं होगी। आदि।" – उस दिन मुझ पर थोड़ा गुस्सा किया था।

दो-तीन बार बुलाने पर भी उस समय मैं नहीं जा सका था और एक दिन ऐसे ही किसी घरेलू झगड़े के कारण मुझसे कहा था – "इस शरीर पर अब कोई ममता नहीं है।" डर से मन काँपने लगा – "हे भगवान! क्या मुझे मातृहत्या का पाप लगेगा? एक स्नेहमयी माँ तो दी, पर साथ में इतने विघ्न क्यों दिये? मेरे लिए ही तो उनके मन में इतनी अशान्ति है। नित्य अकारण इतना क्लेश होता है।"

एक घड़ी भी देर न करके मैं तत्काल माँ के पास गया। उस समय दोपहर के ढाई या तीन बज रहे थे। जाकर देखा – वे नीचे पढ़ने के कमरे में सिर पर दोनों हाथ रखे, किसी चिन्ता में मग्न हो बड़ी गम्भीर होकर बैठी थीं। मैं किस समय कमरे में आकर बैठ गया, यह भी उन्हें पता नहीं चला। यह अवस्था देखकर मुझे अपनी शंका सच्ची लगी। बोला – "माँ।" वे मेरी ओर देखकर मुस्कुराई – "बेटा, अब और तुम्हारी माँ!" कहकर फूट-फूटकर रोने लगीं। मैं तो भय से विचलित हो गया। बोला – "माँ, यदि तुम सचमुच मुझसे इतना स्नेह करती हो, तो मुझे छूकर कहो कि मैं जो कुछ भी पूछूँगा, तुम उसका सच-सच उत्तर दोगी।"

उन्होंने मेरा सिर छूकर कहा – "हाँ बेटा, मैं तुमसे कुछ भी नहीं छिपाऊँगी।" तब थोड़ा साहस करके मैंने पूछा – "क्या तुम सचमुच आत्महत्या करने की सोच रही थी?" वे कुछ देर मेरी ओर एकटक देखती रहीं, फिर आवेग-भरे स्वर में कहा – "बेटा, भगवान की कृपा से बिना प्रसव-वेदना सहे तुम्हारी जैसी सन्तान मिली। तुम्हें पाकर सोचा था कि सन्तान मिल गयी, तो अब विवाह की क्या जरूरत! शान्ति

के साथ भगवन्नाम का जप करूँगी और जितने दिन यह शरीर रहेगा, तुम्हारे साथ आनन्दपूर्वक बिताऊँगी, पर प्रभु की इच्छा शायद ऐसी नहीं हैं। बड़ी अशान्ति का बोध हो रहा थी। पर यह भी सोच रही थी कि यदि ऐसा करूँ तो लोग तुम्हें व्यर्थ ही बड़ा कष्ट देंगे और मैं वह कैसे सहन कर सकूँगी।''

ये बातें वे इतनी गम्भीरता तथा आवेग के साथ कह रही थीं कि मैं बिल्कुल अभिभूत हो गया। उनके चरण पकड़कर बोला – ''मेरी कसम, भगवान की कसम, माँ, ऐसा कभी मत करना। शपथ लो कि ऐसी बात दुबारा कभी नहीं सोचोगी, जिससे यह अशान्ति खत्म हो। उसका मैंने एक उपाय सोचा है, पहले तुम कसम खाओ तब बताऊँगा कि वह क्या है !'' माँ ने मेरा सिर छूकर शपथ लिया कि वे मन से आत्महत्या का भाव दूर करने की चेष्टा करेंगी और उसके बाद व्याकुल होकर रोने लगीं। बोलीं – ''बेटा लक्ष्मीनारायण ! मैं शायद तुम्हारी माँ होने के योग्य नहीं हूँ। लोगों ने मेरी आयु ही देखी है, पर मेरा भाव किसी ने नहीं देखा। तुम्हारी आयु की बात कभी मेरे मन में उदित ही नहीं होती। मैं तुम्हारी गर्भधारिणी माँ नहीं हूँ, इसी बात पर मुझे आश्चर्य होता है। यदि कभी कोई कहता है कि तुम उसके लिए इतना करती हो – क्या वह बाद में तुम्हारी सेवा करेगा? इस कलियुग में अपना खुद का लड़का ही कुछ नहीं करता, तो दूसरे की तो बात ही क्या है? लेकिन मैं कहती हूँ कि यह मेरा इस जन्म का असली बेटा नहीं है, लेकिन दूसरे जन्म में अवश्य ही था, इसमें कोई सन्देह नहीं। मैं अवश्य उसकी माँ थी। यदि ऐसा न होता, तो उसे देखते ही इतने स्नेह तथा आकर्षण का क्यों अनुभव करती, जबकि उसने मुझे माँ कहकर पुकारना भी शुरू नहीं किया था। इसका क्या कारण था? वह मेरा ही लड़का है। वह अपनी माँ के प्रति कर्तव्य अवश्य पूरा करेगा।'' आवेगपूर्वक उन्होंने और भी कई बातें कहीं और पूछा – तुम शान्ति का क्या उपाय बता रहे थे? मैं बोला – ''हाँ माँ, वह इस प्रकार है। तुम अपनी दादी तथा छोटे मास्टर के साथ श्रीमाँ के पास जाओ। वे जो कुछ कहेंगी, वह तुम्हारे और मेरे कल्याण के लिए ही होगा। तुम उसे स्वीकार कर लेना और उसी के अनुसार काम करना। इससे तुम्हें बहुत शान्ति मिलेगी।''

दादी और माँ को यह बात बताने पर वे भी बहुत खुश हुईं। वे लोग श्रीमाँ के पास जाने को राजी हो गये और दिन भी निश्चित हो गया। यहाँ यह बता देना उचित होगा कि मेरी माँ द्वारा विवाह से इनकार करना ही सारी अशान्ति का मूल कारण था और यह सोचकर सबका मेरे ऊपर ही क्रोध था कि मैं ही उन्हें मना करता हूँ। मेरे साथ तय हुआ कि दोनों ही श्रीमाँ के समक्ष अपनी इच्छा प्रकट करेंगे और उनका जो भी आदेश होगा, दोनों ही मान लेंगे। छोटे मास्टर ने भी इस बात को मान लिया और इस काम में बड़ी सहायता की।

सूचना मिली कि श्रीमाँ शीघ्र ही जयरामवाटी जायेंगी, इसलिए दादी-नानी तथा माँ एक दिन छोटे मास्टर को साथ लेकर उद्बोधन गये। दादी ने ही उस दिन सारी बातें कीं और किसी को कुछ कहने नहीं दिया। मेरे विरुद्ध भी बहुत कुछ कहा, पर भाग्यवश श्रीमाँ के साथ मेरा परिचय घनिष्ठ न होने से वे समझ नहीं सकीं। अन्त में गोलाप-माँ, योगीन-माँ आदि ने दादी का पक्ष लेकर श्रीमाँ को विवाह का आदेश देने के लिए अनुरोध किया। श्रीमाँ ने कहा – ''विवाह करने में कोई दोष नहीं, पर साधन-भजन मत छोड़ना। ठाकुर की कृपा से सब ठीक हो जाएगा।'' यह कहकर उन्होंने माँ के सिर पर हाथ रखकर आशीर्वाद दिया और उनकी ठोड़ी छूकर अपना हाथ चूम लिया। (यह बात मुझे छोटे मास्टर और माँ से ज्ञात हुई)। लौटकर माँ ने कहा – ''बेटा, अब तुम्हें स्नेह से बुलाकर खिला नहीं सकूँगी, इसलिए जितने दिन घर में हूँ, मेरे पास-पास रहना। शादी के बाद शायद तुम्हें लक्ष्मी-नारायण कहकर बुलाने का भी सुयोग नहीं मिलेगा। क्या ही अद्भुत भाव था उनका, क्या ही अद्भुत देवी थीं वे !

बात पक्की होने के दो-तीन महीनों के भीतर ही उनका विवाह हो गया। मैंने अपनी माँ के विवाह में बड़े उत्साह के साथ भण्डार के व्यवस्थापक का काम किया। मेरा उत्साह देखकर सब आश्चर्य करने लगे। भारत में यह दृश्य प्रायः देखने को नहीं मिलता, पर जिन देशों में विधवा-विवाह का प्रचलन है, वहाँ ये दृश्य शायद रोज ही देखने को मिलते होंगे। लेकिन इसमें नवीनता थी, क्योंकि मेरी माँ कुँवारी थी।

विवाह के पूर्व के दिनों में माँ प्रतिदिन सामने बिठाकर मुझे खिलाती थीं और सबसे कहतीं – देखना, इसे कोई कष्ट न हो। विवाह के दिन सुबह वे अपनी बड़ी बहन को लेकर मेरे पास आईं और मेरा हाथ उनके हाथ में देकर कहा – ''दीदी, लक्ष्मीनारायण को तुम्हें सौपकर जा रही हूँ, तुम उसे देखना। देखना, लौटकर इसे यहीं पाऊँ।'' वे और कुछ बोल नहीं सकीं और फूट-फूटकर रोने लगीं। इसके बाद मेरे सिर पर हाथ फिराते हुए कहने लगीं – ''बेटा, तुम्हारी माँ पराधीन है, इसलिए तुम्हें छोड़कर जाने को बाध्य है, लेकिन जैसी तुम्हारी माँ हूँ, ठीक वैसी ही रहूँगी, कुछ नहीं बदलेगा और आज से तुम मेरी बड़ी बहन को मेरी ही तरह देखना तथा उनकी बात सुनना। और शैतानियाँ करके जैसे मुझे कष्ट देते थे, वैसे इन्हें मत देना।'' उसी दिन से मैं उनको 'बड़ी माँ' कहकर सम्बोधित करने लगा।

विवाह के बाद वाले दिन सुबह, यात्रा के पूर्व माँ ने मुझे बुला भेजा। पता नहीं क्यों और किस कारण से मेरा मन

दुखी था, इसलिए मैं चुपचाप अपने घर में बैठा हुआ सोच रहा था – "हाय भगवान ! गर्भधारिणी माँ को मृत्यु छीनकर ले गई और इस माँ को विवाह। मेरे दुर्भाग्य की क्या कोई सीमा नहीं है प्रभो? यात्रा का समय निकला जा रहा था, पर मुझसे बिना मिले नहीं जायेंगी। बड़े लोग नाराज हो रहे थे और छोटे इधर-उधर दौड़-दौड़कर मुझे ढूँढ़ रहे थे। बड़ी माँ ने मुझे ढूँढ़ निकाला और कहा – "जल्दी चलो। तुमसे मिले बिना वह नहीं जायेगी और जाने का समय बीतता जा रहा है।" किसी अज्ञात भय से मैं अचेत-सा हो गया और मेरा सारा शरीर काँप रहा था। बड़ी माँ मेरा हाथ पकड़कर तीसरे मंजिल के कमरे में ले गई, जहाँ मेरी माँ अपूर्व साज-सज्जित खड़ी थीं। कई स्त्रियाँ तथा सम्बन्धी भीड़ करके यह अद्भुत दृश्य देख रहे थे। सब सोच रहे थे यह लड़का इनका कौन है? सबके दिल में यही प्रश्न था। कुछ पुरुष भी थे। मैंने उन देवी मूर्ति के चरणों में पड़कर प्राण भरकर प्रणाम किया। मैं कहाँ था, क्या कर रहा था, क्या उचित और क्या अनुचित था – यह भाव मेरे मन में न था। सब अवाक् हो कभी मेरी ओर तो कभी मेरी माँ की ओर देख रहे थे। कोई भी कुछ कहने का साहस नहीं जुटा पा रहा था। वह क्या ही अद्भुत दृश्य था, क्या ही अद्भुत बात थी ! अब उन बातों की याद करके मुझे भी बड़ा आश्चर्य लगता है। इस जगत् में ऐसा दृश्य शायद किसी ने भी नहीं देखा होगा। मैंने तो नहीं सुना है। उस मातृभाव की पवित्र अभिव्यक्ति के समक्ष सबका सिर झुक गया। बड़ी माँ मेरा हाथ पकड़कर फिर उसी कमरे में छोड़ यात्रा का आयोजन करने गईं। वे कब चली गई – इसका मुझे बोध ही नहीं हुआ। करीब दो-ढाई बजे बड़ी माँ ने मुझे खाने को बुलाया। जाकर देखा – अपरिचित स्त्री-पुरुषों की भीड़ थी। सब मुझे भलीभाँति देखने के लिए खड़े थे। सबको देखकर मुझे लज्जा आ रही थी, पर बड़ी माँ ने बलपूर्वक मुझे खाने के लिए बिठा दिया। किसी तरह थोड़ा-सा भोजन किया। चारों ओर से प्रश्न हो रहे थे – कौन हो तुम, कहाँ रहते हो, आदि आदि ! मैंने एक का भी उत्तर नहीं दिया और बड़ी माँ ने मेरा इस कठिनाई से उद्धार किया।

श्रीमाँ के आशीर्वाद और ठाकुर की इच्छा से जिनके साथ विवाह हुआ था, वे स्वयं भी ठाकुर के बड़े भक्त थे और बड़े सुन्दर तथा सरल थे। माँ ने उनको मेरे बारे में सब कुछ बता दिया था। थोड़ी देर बाद जब वे माँ के मकान में आये, तो उनका पहला प्रश्न था, "लक्ष्मीनारायण कौन है? उसे मेरे पास बुलवाइये।" मुझे देखकर वे विस्मित होकर बोले, "मैंने सोचा था लक्ष्मीनारायण कोई छोटा-सा बच्चा होगा।" मैंने कहा, "माँ के पास तो मैं एक छोटे बालक की तरह ही हूँ। उनके लिए मैं कभी बड़ा नहीं होऊँगा।" उन्होंने मेरे साथ बड़ी आन्तरिकता के साथ बातें कीं। मैंने कहा, "यहाँ आयु का कोई प्रश्न नहीं है – भाव का राज्य है। मेरी माँ से सम्बन्ध होने के कारण आप भी मेरी नजरों में बहुत बड़े है।" इसके बाद दुर्गापूजा के समय वे मुझे अपने साथ घर ले गये थे। माँ के सास तथा ससुर ने मुझे बड़ा स्नेह किया। माँ ने मुझे पहले ही कह दिया था – उनको दादी-दादा कहकर पुकारना। मैंने उनका आदेश मान वही कहकर प्रणाम किया। वृद्ध दम्पति ने खुश होकर मुझे बारम्बार आशीर्वाद दिया।

हम लोग खाने को बैठे थे। मेरी नई दादी पंखा लेकर हवा कर रही थी और मुझे स्नेहदृष्टि से देखकर कह रही थी, "यह खाओ, वह खाओ। तुम्हारी माँ तुम्हारे लिए कितनी चिन्ता करती थी, कहती थी तुम कितने दुबले हो गये हो ! तुम्हारे पास बैठकर प्यार से खिलाने को कोई नहीं है।"

बंगाल की माँ ! इसी बन्धन में ही तुम्हारी शोभा और बंगाल का गौरव है ! जो लोग तुम्हें नरक का द्वार कहते हैं, उनका मस्तिष्क विकृत है, उनका मन दूषित है, शायद इसी कारण वे लोग तुम्हें ऐसा समझते हैं। तुम लोग स्वर्ग का द्वार हो, तुम्हारे स्नेह का बन्धन, बन्धन होते हुए भी वस्तुतः कभी छोटा नहीं हो सकता। माँ का स्नेह कितने बन्धनों का, कितने दुख का कारण होते हुए भी कभी तुच्छ नहीं हो सकता। जो लोग इस बन्धन में बँधे हुए हैं, वे क्या कभी पथ से भटक सकते हैं !

इतने में दादाजी भोजन के स्थान पर आ गये – उन्हें देखकर दादी ने हँसते हुए कहा – "हमारी नई वधू, प्रसव न करके भी माँ बन गई है। हमने अपने छोटे का पुत्र भी देख लिया। कितना स्नेह करती है ! अपनी सन्तान के लिए बिल्कुल उन्मादिनी-सी रहती है ! दिन-रात इसी की बात सोचती है और इसी की चिन्ता में रहती है। लड़का सचमुच स्नेह का पात्र है, कितना सुन्दर है।" एक और बात उन्होंने कहा था – "तुम्हें देखते ही जप करने की इच्छा होती है और मन-ही-मन जप करती भी हूँ। बाद में जब 'जपानन्द' नाम हुआ, तो सोचा कितने आश्चर्य की बात है ! पूजनीय महाराज (स्वामी ब्रह्मानन्द) ने दूसरों के कहने पर पहले जो नाम दिया था, उसे स्वयं ही बदल दिया। संन्यास-प्राप्ति के दिन जब गंगा-स्नान तथा प्रणाम आदि करके आकर खड़ा हुआ था, तो उन्होंने कमरे से बाहर बरामदे में आकर कहा – "मेरी इच्छा है तेरा नाम हो – 'जपानन्द' – ॐ।"

❖ (क्रमशः) ❖

जीने की कला (३४)

स्वामी जगदात्मानन्द

(लेखक रामकृष्ण संघ के एक वरिष्ठ संन्यासी हैं। उन्होंने युवकों के लिए जीवन-निर्माण में मार्गदर्शन करने हेतु कन्नड़ भाषा में एक पुस्तक लिखी, जो अतीव लोकप्रिय हुई। इसका अंग्रेजी अनुवाद भी दो भागो में निकला है। इसकी उपयोगिता को देखकर हम इसका धारावाहिक प्रकाशन कर रहे है। अनुवादक हैं श्री रामकुमार गौड़, जो सम्प्रति आकाशवाणी के वाराणसी केन्द्र में सेवारत हैं। – सं.)

अध्याय ५

प्रार्थना से कायाकल्प

"ईश्वर में अटल विश्वास चमत्कार कर सकता है। ऐसा भक्त सर्वसमर्थ होता है। ऐसे विश्‍वास के अभाव में मनुष्य निर्बल ही बना रहता है। निस्सन्देह, विश्वास ही जीवन और अविश्वास मृत्यु है।" – *भगवान श्रीरामकृष्ण*

"आत्मा का स्वरूप जान लेने पर दुर्बलतम, अधमतम और घृणित पापी के लिए भी आशा जाग उठती है।"

– *स्वामी विवेकानन्द*

"माँगो और तुम्हें दिया जाएगा। खोजो और तुम पाओगे। दरवाजा खटखटाओ और वह तुम्हारे लिए खुल जाएगा।"

– *बाइबिल*

"मैं उन लोगों के हृदयों मे निवास करता हूँ, जो मेरे लिए बड़े व्याकुल रहते हैं।" – *कुरान*

"प्रार्थना का उद्देश्य हमारे अन्तर की गहराई में स्थित दिव्यता जाग्रत करना है। प्रार्थना के प्रभाव की अनुभूति कर लेनेवाला व्यक्ति लगातार कई दिनों तक निराहार भले ही रह ले, परन्तु प्रार्थना के बिना वह एक पल भी जीवित नहीं रह सकता। प्रार्थना उसके जीवन की साँस होती है।

"मनुष्य को प्रार्थना की उतनी ही जरूरत है, जितनी रोटी की। जैसे शरीर के लिए भोजन जरूरी है, वैसे ही आत्मा के लिए प्रार्थना आवश्यक है। मुझे इस बात में लेशमात्र भी सन्देह नहीं है कि सच्ची प्रार्थना-भावना के अभाव के कारण ही आज हमारा परिवेश संघर्ष और विवादों से इतना परिपूर्ण है। **सच्ची प्रार्थना कभी अनुत्तरित नहीं रहती।** मन के प्रार्थनाशील विचारों से परिपूर्ण रहने पर संसार की सभी चीजें अच्छी तथा अनुकूल प्रतीत होती हैं। जीवन की उन्नति के लिए प्रार्थना अत्यावश्यक है।" – *महात्मा गाँधी*

ईश्वर से निवेदन

प्रार्थना वह माध्यम है, जिसके द्वारा हम, ईश्वर में अटल विश्वास रखकर, अपनी आन्तरिक भावनाओं को व्यक्त करते हैं। जैसे हम फोन करके अपने मित्र को अत्यावश्यक सन्देश देते हैं, वैसे ही प्रार्थना के द्वारा हम ईश्वर से सम्बन्ध स्थापित करके अपने हृदय को खोल देते हैं। यह ईश्वर के साथ एक पवित्र संवाद है। प्रार्थना ईश्वर के साथ सीधी बातचीत है। यही प्रार्थना की सार बात है।

इस ब्रह्माण्ड का नियमन करनेवाली, सब कुछ में व्याप्त एक अज्ञात रहस्यमय शक्ति के अस्तित्व के बारे में कोई भी सन्देह नही है। वैसे आज ऐसी कोई तकनीक या उपकरण उपलब्ध नहीं है, जो ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध कर सके। इस दृष्टि से विज्ञान की भी अपनी सीमाएँ हैं। परन्तु यह शक्ति अमर और अनन्त है। ब्रह्माण्ड के समस्त विस्मयकारी सूक्ष्म नियमों के संचालक ईश्वर ही हैं। ब्रह्माण्ड की विभिन्न इकाइयों – यथा सूर्य, चन्द्र, तारे, आकाशगंगा, ऋतुचक्र, वायु में ओषजन का अनुपात बनाये रखना और संसार में जल-वायु तथा प्रकाश की यथेष्ट आपूर्ति का नियमन, ईश्वर नामक इसी शक्ति से होता है। यही शक्ति प्रत्येक जीव में जैविक क्रियाओं के लिए भी उत्तरदायी है। हम इस शक्ति को साकार या निराकार मानकर उसकी उपासना कर सकते हैं। हमारी जैविक क्रियाएँ ईश्वर में हमारे विश्वास या अविश्वास पर निर्भर नहीं करतीं। ईश्वर परम दयालु हैं। वे आस्तिकों और नास्तिकों दोनों के ही हृदय में समान रूप से रक्त-संचार करते रहते हैं। एक कसाई की जैविक क्रियाएँ भी उतनी ही व्यवस्थित तथा सुचारु रूप से चलती हैं, जितनी कि किसी सज्जन व्यक्ति की चलती हैं। पर मन की शान्ति और सच्चा सुख प्रत्यक्ष रूप से ईश्वर-कृपा पर ही निर्भर करता है।

ईश्वर शान्ति तथा तुष्टि के विग्रह, आनन्द के भण्डार और सुख के सागर हैं। ईश्वर में अचल विश्वास रखनेवाला व्यक्ति उनकी इच्छा के प्रति आत्मसमर्पण कर देता है और वह कभी आनन्दोत्सव से वंचित नहीं रहता। ऐसा भक्त विनम्र बनकर सतत अपने इष्टदेव से प्रार्थना और याचना किया करता है। उसका हृदय सदा प्रार्थनायुक्त तथा कृतज्ञतापूर्ण भावों से भरा रहता है। भगवान सर्वशक्तिमान हैं। उनकी करुणा का कोई अन्त नहीं। भगवान के द्रवित हो जाने पर सूखे वृक्ष भी खिल उठते हैं और ऊसर भूमि भी उपजाऊँ हो जाती है।

ईश्वर को पुकारना

सन्तगण कहते हैं कि सरल तथा निश्छल प्रार्थना से ईश्वर की कृपा प्राप्त करना और मन की बुरी प्रवृत्तियों से

छुटकारा पाना सम्भव है। वे घोषणा करते हैं कि ईश्वर-कृपा कोई कल्पना-कथा नहीं, अपितु अनुभव की बात है। कोई भी साधक जाति-धर्म तथा वर्ण से निरपेक्ष, व्याकुल प्रयत्न के द्वारा भगवत्कृपा प्राप्त कर सकता है। साधारण साधकों की सिद्धि-प्राप्ति के अनेक उदाहरण मिलते हैं। गणितीय सिद्धान्तों और कार्य-कारण के नियम की सहायता से भौतिक जगत् के नियमों की सटीक व्याख्या की जा सकती है, परन्तु भगवत्कृपा का ठीक-ठीक परिमापन नहीं किया जा सकता। प्रार्थना की उपयोगिता तथा भगवान की कृपा के बारे में कोई सन्देह नहीं उठाया जा सकता। यदि कोई भक्त निरन्तर निष्ठा-पूर्वक भगवान की कृपा पाने का प्रयत्न करता रहे, तो वह निश्चय ही उसे प्राप्त करेगा। श्री अरविन्द का कहना है कि इसका यह अर्थ नहीं कि यह उसे तत्काल प्राप्त हो जायेगा। केवल धैर्यपूर्वक साधना करनेवाले लोग ही भगवत्कृपा प्राप्त करने की आशा रख सकते हैं।

विश्वास, ईश्वरनिर्भरता, अहंशून्यता और समर्पण का भाव उनकी विशेष कृपा प्राप्त करने की पूर्व-शर्तें हैं। भगवान के चरणों में स्वयं को पूर्णतया समर्पित करने का दावा करने वाले अधिकांश लोग प्राय: आलस्य में लिप्त और प्राय: सर्वदा पाशविक प्रवृत्तियों से आक्रान्त रहते हैं। सतत प्रयत्न और तीव्र व्याकुलता के द्वारा इन बाधाओं से मुक्त हुए बिना भगवत्कृपा प्राप्त करना प्राय: असम्भव है। श्रीरामकृष्ण देव कहते हैं, "उनकी कृपावायु दिन-रात बह रही है। अपनी अपनी नाव का पाल उठा दो और उसका सदुपयोग करो।" आलसी और निष्क्रिय नहीं, अपितु समर्थ और उद्यमी लोग ही इससे लाभ उठाते हैं। बुरे तथा कुटिल विचारों से परिपूर्ण और सांसारिक आकर्षणों से प्रदूषित मनवाले लोगों के लिए भगवान की कृपा का कोई उपयोग नहीं है। स्वामी विवेकानन्द कहते थे, "भगवान उन्हीं लोगों पर कृपा करते हैं, जो उन्हें प्राप्त करने हेतु निष्ठापूर्वक प्रयत्न तथा संघर्ष करते हैं। यदि तुम इतने अकर्मण्य हो कि ईश्वर के लिए कुछ नहीं कर सकते, तो निश्चय जानो भगवान तुम्हें कभी नहीं मिलेंगे। कृपा कभी आलसी लोगो को नहीं, अपितु इसके लिए सतत संघर्षरत लोगों को ही मिलती है।" अत: सतत प्रार्थना के द्वारा प्रभु के आगमन की व्याकुल प्रतीक्षा ही उनकी कृपारूपी वायु के लिए हमारी नौका का पाल खोलने के समान है।

प्रार्थना के प्रकार

अभ्यास या साधना ईश्वर की ओर यात्रा के सिंवाय अन्य कुछ नहीं है। जैसे किसी स्थान को पहुँचने के लिए विभिन्न मार्ग होते हैं, वैसे ही साधना के भी विविध प्रकार होते हैं। प्रार्थना भी उन्हीं में से एक है। यह व्यक्ति के अन्त:करण को पवित्र बनाने का एक सरल साधन है। जप, ध्यान, भजन, दण्डवत् प्रणाम, स्तोत्र-पाठ, पूजा, अनुष्ठान – ये सभी ईश्वर की ओर जाने के विभिन्न मार्ग हैं।

यदि कोई विद्यार्थी किसी सुयोग्य शिक्षक के निर्देशानुसार परिश्रमपूर्वक अध्ययन करता है, तो सहज ही अच्छे अंकों के साथ परीक्षा में सफल हो जाता है, वैसे ही साधु-सन्तों के निर्देशानुसार प्रार्थना की कला सीखना सहज है। जैसे विद्यालय में नियमित उपस्थिति और लगन के साथ अध्ययन सफलता का पथ प्रशस्त करता है, वैसे ही आध्यात्मिक जीवन में सफलता के लिए नियमित प्रार्थना अत्यावश्यक है।

हम अपने इष्टदेव के चित्र या मूर्ति के सम्मुख खड़े होकर या बैठकर प्रार्थना कर सकते हैं। वैसे अपने हृदय में भगवान की छवि की कल्पना कर सकनेवाले लोगों को प्रार्थना हेतु किसी बाह्य मूर्ति या चित्र की जरूरत नहीं होती। समर्पण, विश्वास और व्याकुलता ही प्रार्थना की अत्यावश्यक शर्तें हैं।

प्रार्थना की चाह रखनेवाले लोगों को भगवन्नाम का सतत जप और अपने इष्टदेव का नियमित पूजन तथा ध्यान करना चाहिए। उन्हें धर्मग्रन्थों और रामरक्षा तथा ललिता-सहस्रनाम जैसे स्तोत्रों का पाठ करना चाहिए। उपवास करके, निरहंकार भाव से विनम्रतापूर्वक भगवान को साष्टांग प्रणाम करके उनकी कृपा के लिए व्याकुल रहना चाहिए। ये साधनाएँ क्रमश: अन्त:करण को पवित्र बनाकर साधक को ईश्वर-दर्शन कराने में सहायक होती हैं। निस्सन्देह यह कोई आसान कार्य नहीं है। इसे एक या दो दिन में नहीं सम्पन्न किया जा सकता। भगवान की प्राप्ति करने के लिए हमें अविचल व्याकुलता के साथ इस पथ पर अग्रसर होना है।

प्रभु के समक्ष हृदय को खोल देना

मान लीजिए कि आपकी साइकिल के कैरियर पर १०० किलो का एक लौहखण्ड है। इस भार के साथ यदि आप साइकिल पर चढ़ना चाहें, तो क्या होगा? आप गिर सकते हैं। इस भार के साथ साइकिल पर सवार होकर चलने का प्रश्न ही नहीं उठता। हममें से कई लोगों की यही स्थिति है।

निरन्तर प्रार्थना के बाद भी कोई सुफल न पानेवालों के लिए यहाँ एक समाधान है। यदि कुकर्म का भार असह्य हो, तो व्यक्ति की स्थिति उस साइकिल-सवार जैसी है। प्रयत्न जारी रह सकता है, पर परिणाम विलम्ब से मिलेंगे। इस गतिरोध से बाहर कैसे निकलें? संचित कर्म का भार उस लौहभार के समान नहीं है। सूर्योदय के पश्चात् भाप बनकर उड़ जानेवाले ओसकणो के समान प्रार्थना इस कुकर्म-भार को नष्ट कर देगी। जैसे घटे हुए लौहभार के साथ साइकिल की यात्रा असानी से होती है, वैसे ही कुकर्म-भार में ह्रास हमें साधना में तेजी से अग्रसर होने में सहायता करता है। अत: कुकर्म के भार को घटाने के लिए प्रार्थना जरूरी है।

प्रार्थना का मूल तत्त्व – तीव्र व्याकुलता

अहिर्बुध्न्य संहिता (३७/२८) में प्रार्थना से लाभ उठाने के इच्छुकों द्वारा आचरणीय कुछ सद्गुणों का उल्लेख है –

"प्रतिकूल या बुरे विचारों को छोड़कर भले तथा अनुकूल विचारों का चिन्तन, भगवान की तारक-शक्ति में विश्वास, सदा ईश्वर के संरक्षण को प्राथमिकता देना, उनमें समर्पण और असहायता का भाव।' ईश्वर में पूर्ण समर्पण करके उन्हें अपनी सारी समस्याओं से अवगत कराना चाहिए। ये भगवान के प्रति सच्चे समर्पण की मुख्य विशेषताएँ हैं।"

हाँ, ईश्वर में अटल विश्वास ही भक्ति का मूल है। सच्ची भक्ति विनम्रता और आत्म-समर्पण की ओर अग्रसर कराती है। फिर यह पूर्ण ईश्वर-निर्भरता की ओर ले जाती है। इसके बाद साधक ईश्वर की अनुभूति के लिए तीव्र व्याकुलता का बोध करने लगता है। ईश्वर के लिए यह व्याकुलता ही प्रार्थना का सार-सर्वस्व है।

आत्मशुद्धि के एक साधन के रूप में प्रार्थना अविस्मरणीय काल से प्रचलित रही है। **सर्वे जनाः सुखिनो भवन्तु** – सभी लोग सुखी हों। बृहदारण्यकोपनिषद का मंत्र है – **असतो मा सद्गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय, मृत्योर्मा अमृतं गमय** – हमें असत्य से सत्य की ओर, अँधेरे से प्रकाश की ओर तथा मृत्यु से अमरता की ओर ले चलिए। उपरोक्त मंत्र तथा बुद्धि-प्रकाशक गायत्री मंत्र इस बात को प्रमाणित करते हैं। परन्तु परवर्ती काल में तर्क-बुद्धिवाद के प्रभाव से प्रार्थना का महत्त्व खो गया। निश्छल प्रार्थना के बजाय लोग अपनी इच्छाओं की पूर्ति हेतु कर्मकाण्डों का अनुष्ठान करने लगे। दुर्भाग्यवश, प्राचीन काल के धर्माचार्यगण भी सर्व-साधारण में प्रार्थना-भावना जाग्रत नहीं कर सके। ईसाई और इस्लाम धर्म में प्रार्थना का विशिष्ट स्थान है। श्रीरामकृष्ण ने हिन्दू धर्म में भी प्रार्थना की कला को पुनर्जीवित किया। उन्होंने आध्यात्मिक जीवन में प्रार्थना के महत्त्व को पुनर्प्रतिष्ठित किया।

श्रीरामकृष्ण देव ईश्वर के लिए अपनी तीव्र व्याकुलता के बारे में कहा करते थे, "मेरे हृदय में असह्य पीड़ा होती थी। जैसे कोई व्यक्ति बलपूर्वक गीले तौलिए को निचोड़ता है, लगता मानो कोई मेरे हृदय-मन को वैसे ही मरोड़ रहा है। प्रतिदिन संध्या के समय, काली-मन्दिर की घण्टा-ध्वनि सुनकर मैं चिल्ला उठता – "माँ, एक दिन और भी चला गया। तुम कहाँ हो? तुम मेरे पास क्यों नहीं आती? जल्दी आकर मुझ पर कृपा करो, माँ!" पीड़ा से खूब कातर होकर मैं भूमि पर लोटकर कराहता रहता। मेरे लिए हर पल मूल्यवान था। माँ को देखे बिना मेरे लिए जीवन निरर्थक था।" कैसी व्याकुलता थी यह! उन्हीं के शब्दों में, "तीव्र व्याकुलता भोर के समान सूर्योदय की सूचना देती है।"

विनम्र याचना

बलराम बोस कलकत्ते के बागबाजार के एक धनी परिवार के थे। दानशीलता इस पवित्र परिवार के रक्त में ही थी। बलराम अपने बाल्यकाल से ही धार्मिक भावापन्न थे। वे शास्त्र-पठन, प्रार्थना और ध्यान में ही अपना समय बिताते। केशवचन्द्र सेन के समाचार-पत्र में उन्होंने श्रीरामकृष्ण देव के बारे में पढ़ा था और उनसे मिलने दक्षिणेश्वर आए थे। कमरे में भीड़-भाड़ होने के कारण बलराम को अपना परिचय देने का अवसर ही नहीं मिला और वे एक कोने में बैठकर ठाकुर की बातें सुनते रहे। श्रीरामकृष्ण कह रहे थे, "हार्दिक व्याकुलता के बिना भगवान का दर्शन नहीं हो सकता और भोग-वासना समाप्त हुए बिना व्याकुलता असम्भव है। जो लोग 'काम-कांचन' से घिरे हैं और जिनकी भोग-वासना पूरी नहीं हुई है, वे भगवान के लिए व्याकुल नहीं होते।"

जलपान करने के लिए जब ब्राह्मसमाजी लोग कमरे से बाहर चले गये, तब श्रीरामकृष्ण ने बलराम की ओर उन्मुख होकर कहा, "क्या तुम मुझसे कुछ पूछना चाहते हो?"

बलराम बोले, "हाँ, महाराज, ईश्वर क्या सचमुच हैं?"

श्रीरामकृष्ण ने कहा, "निश्चय ही हैं?"

बलराम ने पूछा, "क्या कोई उन्हें देख सकता है?"

श्रीरामकृष्ण ने उत्तर दिया, "हाँ, भगवान उस भक्त के समक्ष प्रकट होते हैं, जो उन्हें अपना प्रिय-स्वजन मानता है। एक बार भगवान से प्रार्थना करके कोई उत्तर न मिलने पर यह निष्कर्ष नहीं निकाल लेना चाहिए कि वे हैं ही नहीं।"

बलराम ने पूछा, "परन्तु इतनी प्रार्थना करने के बाद भी मैं उन्हें क्यों नहीं देख पाता?"

श्रीरामकृष्ण ने मुस्कुराते हुए कहा, "क्या सचमुच ही तुम भगवान को अपनी सन्तानों के समान प्रिय मानते हो?"

बलराम ने स्वीकार किया, "नहीं महाराज, मैंने भगवान के लिए कभी इतने आकर्षण का बोध नहीं किया।"

तब ठाकुर ने मधुर आश्वासन के स्वर में कहा, "भगवान को अपनी आत्मा से भी अधिक प्रिय समझकर उनसे प्रार्थना करो। मैं तुमसे सच कहता हूँ – उन्हें अपने भक्त अत्यन्त प्रिय हैं। वे भक्तों को निश्चित रूप से दर्शन देते हैं। कभी कभी तो वे ढूँढ़ने के पहले ही मिल जाते हैं। यदि कोई भगवान की ओर एक कदम आगे बढ़ता है, तो वे उसकी ओर दस कदम आगे आते हैं। भगवान से अधिक आत्मीय और प्रिय दूसरा कोई भी नहीं है।"

बलराम बड़े प्रभावित हुए। ठाकुर का हर शब्द उनके हृदय में घर कर गया। उनकी प्रार्थना की तीव्रता बढ़ती गई। उन्होंने अपने आध्यात्मिक जीवन में बड़ी उपलब्धियाँ कीं।

स्वामी ब्रह्मानन्द कहते हैं, "तीव्र व्याकुलता और सच्चे हृदय के साथ भगवान से प्रार्थना करो। भगवान को स्पष्ट बता दो कि तुम केवल उन्हीं को चाहते हो। सन्देह बिल्कुल मत करो, ईश्वर निश्चय ही विद्यमान हैं। दुर्बल-विनम्र लोगों पर निश्चय ही उनकी कृपा होगी। भक्ति और बालसुलभ विश्वास के साथ उनसे प्रार्थना करने पर वे निश्चय ही दर्शन देंगे। पुरानी भूलों और बहुत दिनों तक भगवच्चिन्तन नहीं कर सके – यह सोचकर चिन्तित मत होना। वे दयामय हैं, तुम्हारी त्रुटियों पर ध्यान नहीं देंगे। बाल-सुलभ सरलता से उन्हें पुकारो। वे तुम्हें अपनी गोद में उठा लेंगे। पर बालसुलभ विश्वास के बिना कोई भी भगवान का दर्शन नहीं पा सकता।

भगवान तुम्हारी प्रार्थना का उत्तर देंगे

श्रीरामकृष्ण देव के चरणों में आश्रयप्राप्त उनके एक शिष्य थे स्वामी अद्भुतानन्द। वे श्रीरामकृष्ण देव की ज्ञानगर्भित बातें सुनते और निष्ठापूर्वक उनकी सेवा करते थे। मूलत: वे एक ग्रामीण बालक थे, परन्तु त्याग-तपस्या-आत्मसमर्पण और ठाकुर के प्रति भक्ति में वे किसी से कम नहीं थे। उनकी आध्यात्मिक सिद्धि भी उनके नाम के समान ही 'अद्भुत' थी। श्रीरामकृष्ण के देहत्याग के पश्चात् उन्होंने अपना सारा समय प्रार्थना और ध्यान में बिताया। वे शास्त्रों के तत्त्व की सुस्पष्ट व्याख्या करने में सक्षम थे। इन सिद्ध महात्मा की बातें परम संशयग्रस्त अज्ञेयवादियों के भी मन के सन्देह को मिटाकर उसमें भगवद्भक्ति का भाव भर देती थीं। अपने जीवन के अन्तिम दिन उन्होंने पुण्यतीर्थ काशी में बिताए थे।

स्वामी अद्भुतानन्द एक दिन अपने शिष्यों को ईश्वर और आध्यात्मिक जीवन के बारे में बता रहे थे। सहसा वे मौन हो गये। उन्होंने एक विशेष दिशा की ओर देखा और बोले, 'अरे, तुम वहीं से प्रणाम कर रहे हो! मैंने तुम्हें यहाँ आने को कहा था। कोई बात नहीं!' फिर वे पूर्ववत् बातें करने लगे। भक्तगण विस्मित होकर बोले, 'महाराज, आपने किसे सम्बोधित किया? स्वामी अद्भुतानन्द ने कहा, 'अरे, मैं कलकत्ते के उस भक्त को उत्तर दे रहा था।' इतना कहकर उन्होंने पूरी कहानी बता दी –

कुछ दिन पूर्व कलकत्ते के एक भक्त अपने व्यवसाय के सिलसिले में वाराणसी आए थे। वे अद्भुतानन्द जी से मिले, उन्हें प्रणाम किया और कहा कि वापस लौटने के पूर्व वे पुन: मिलने आयेंगे। पर अप्रत्याशित कारणों से उन्हें सहसा ही लौटना पड़ रहा था। वे वहाँ से लगभग ४ मील दूर स्थित रेलवे स्टेशन से ही अद्भुतानन्द जी को अपना मानसिक प्रणाम निवेदित करते हुए अपने वचन-भंग की त्रुटि के लिए क्षमा माँग रहे थे। इधर अपने शिष्यों से बातचीत कर रहे स्वामी अद्भुतानन्द ने उस भक्त की प्रार्थना सुनकर उसका समुचित उत्तर दिया था। भक्त की निश्छल पुकार या प्रार्थना सुनी जाती है और उसका उत्तर मिलता है – इस बात को प्रमाणित करने के लिए क्या और भी कुछ कहना होगा?

बनारस में विभूति बाबू नामक एक सज्जन एक दिन कुछ वयोज्येष्ठों के साथ बातचीत के दौरान विश्वनाथ मन्दिर के बारे में अवज्ञापूर्ण स्वर में बोले, 'क्या कहा! भगवान शिव वहाँ रहते हैं? यह मात्र एक भ्रम और अन्धविश्वास है।' शाम को वे स्वामी अद्भुतानन्द के दर्शनार्थ गए। उनके वहाँ पहुँचते ही स्वामी अद्भुतानन्द गरज पड़े, 'कैसी मूर्खता है! भगवान विश्वनाथ के अस्तित्व की अनुभूति करने के लिए तुमने कौन-सी साधनाएँ की हैं? क्या ईश्वर की अनुभूति के लिए अपेक्षित पवित्रता और व्याकुलता तुममें है?' विभूति बाबू भौचक्के रह गए। उन्होंने अपनी सन्देहपूर्ण वाणी के लिए खेद व्यक्त करते हुए विनम्रतापूर्वक अद्भुतानन्द जी के चरणों में साष्टांग प्रणाम किया। स्वामी अद्भुतानन्द मानो सब कुछ से अनभिज्ञ मुस्कुराते हुए बोले, 'विश्वनाथ मन्दिर में जाओ और पूजा-अर्चना करके प्रसाद ले आओ।'

इस प्रकार भगवान के चरणों का स्पर्श पा चुके सन्त ने दूरस्थ भक्त की प्रार्थना को सुन लिया और एक अन्य व्यक्ति के संशय को समझ लिया। तो फिर क्या सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान और सर्वव्यापी ईश्वर हमारी प्रार्थनाओं को नहीं सुनेंगे? क्या भक्त की पुकार अनसुनी कर देंगे?

स्वामी अद्भुतानन्द ने कहा था, 'निश्चय ही वे हमारी प्रार्थनाओं का उत्तर देंगे।'

उन्होंने एक भक्त को जगन्नाथ-पुरी का अपना अनुभव बताया था, 'इस मन्दिर में सर्वत्र भगवान विद्यमान हैं। भक्तों की भक्ति-भावना के अनुरूप भगवान उन पर कृपा करते हैं। मैंने भी निश्छल भाव से प्रार्थना की थी, "हे प्रभो, मुझे अपना वह दिव्य-चिन्मय रूप दिखा दीजिए, जिसे देखकर श्रीचैतन्य देव हर्षातिरेक से अश्रुपात किया करते थे।" प्रभु ने मेरी यह प्रार्थना सुनी। वे हमारी सभी प्रार्थनाएँ सुनते हैं।'

स्वामी अद्भुतानन्द बोले, 'हम दूसरों को धोखा दे सकते हैं, परन्तु क्या हम कभी भगवान को भी ठग सकते हैं?' उन्होंने आगे कहा, 'ईमानदारी, नि:स्वार्थता और सज्जनता किसी व्यक्ति को अध्यात्म-राज्य में प्रवेश करने की योग्यता प्रदान करते हैं।' वे कहते, 'नि:स्वार्थ भाव से परोपकार हेतु प्रयत्नशील लोग ईश्वर की कृपा प्राप्त करते हैं।'

श्रीरामकृष्ण कहते थे, 'भगवान चींटी की पगध्वनि तक सुन सकते हैं, तो क्या वे हमारी प्रार्थना नही सुनेंगे?' तुम्हारी व्याकुलता पक जाने पर वे निश्चय ही तुम्हारी पुकार सुनेंगे।

❖ (क्रमश:) ❖

श्रीरामकृष्ण की बोध-कथाएँ

(कथाओं व दृष्टान्तों के माध्यम से अपनी बाते समझाने की परम्परा वैदिक काल से ही चली आ रही है। श्रीरामकृष्ण भी अपने उपदेशों के दौरान अनेक कथाएँ सुनाते थे। यत्र-तत्र बिखरी इन मूल्यवान कथाओं को हम यहाँ धारावाहिक रूप से प्रस्तुत कर रहे है। – सं.)

– १७ –
डैम डैम

किसी शहर में एक नाई रहता था। एक दिन वह किसी साहब की दाढ़ी बनाने गया। हाथ हिल जाने से साहब के गाल पर जरा-सा छुरा लग गया। पीड़ा से होठ भीचकर साहब चिल्ला उठे – "डैम।"

नाई इस 'डैम' शब्द का अर्थ नहीं जानता था। उसे शंका हुई कि कहीं यह कोई गाली आदि तो नहीं है। उसने तत्काल हजामत का सामान किनारे रखा, अपनी कमीज की आस्तीन चढ़ा ली और बोला, "तुमने मुझे 'डैम' कहा, मुझे बताओ, इसका अर्थ क्या है?" नाई का रुख देखकर साहब घबड़ा उठे और बोले, "उस शब्द का कोई विशेष अर्थ नहीं होता। तू तो अपना काम कर, हजामत पूरी कर दे। हाँ, पर थोड़ी सावधानी से करना।"

परन्तु नाई भी नाछोड़-बन्दा था। वह बारम्बार उस शब्द का अर्थ जानने का आग्रह करने लगा। परन्तु उसका भी कोई फल न निकलने पर वह बोल पड़ा, "देखो साहब, अब 'डैम' का अर्थ यदि अच्छा है, तो मैं डैम, मेरा बाप डैम, मेरे चौदह पुरखे डैम। और 'डैम' का अर्थ यदि बुरा है, तो तुम डैम, तुम्हारा बाप डैम, तुम्हारे चौदह पुरखे डैम; और केवल डैम ही नहीं, वे सब-के-सब 'डैम-डैम-डैम-डैम-डैम' हैं।"

मूर्खों के सामने बड़ी सावधानी से पेश आना चाहिए।

– १८ –
पहले स्वयं गुड़ खाना छोड़ो

किसी गाँव में एक व्यक्ति काफी दिनों से बीमार था। उसने कई हकीमों तथा वैद्यों से चिकित्सा कराई, परन्तु कोई लाभ न हुआ। कुछ दिनों बाद सुनने में आया कि पास के नगर में एक नये वैद्यजी आये हैं और उनके हाथ में बड़ा यश है। दूर दूर से रोगी आकर उनके हाथों चंगे होकर लौटते हैं। इस व्यक्ति ने भी सोचा कि क्यों न जाकर इन्हें भी दिखा लिया जाय, हो सकता है इनकी दवा कारगर सिद्ध हो जाय।

गर्मी का मौसम था। लू भी चल रही थी। उसके पास इतने पैसे भी न थे कि बैलगाड़ी आदि किराये पर ले लेता। तो भी किसी प्रकार दो दिन पैदल चलकर, वह नगर में जा पहुँचा और जाकर वैद्यजी के दवाखाने में हाजिर हो गया। वैद्यजी ने उसकी भलीभाँति जाँच-पड़ताल की और उससे रोग के लक्षणों के साथ-ही-साथ यह भी पूछा कि उसे क्या-क्या खाना अच्छा लगता है। जाँच पूरी हो जाने के बाद वैद्यजी ने चिकित्सा के लिए पन्द्रह दिन बाद फिर आने को कहा।

रोगी ने अनुरोध किया कि उसके लिए इतनी दूर जाकर पन्द्रह दिन बाद फिर लौटना बड़ा कठिन होगा। लेकिन वैद्य ने उसकी एक न सुनी। और कोई चारा न देखकर रोगी किसी प्रकार अपने घर को लौटा। नियत समय पर दुबारा आने पर वैद्यजी ने उसे कहा – "देखो, तुम्हें ज्यादा कुछ नहीं करना है, बस खाने-पीने में थोड़ी सावधानी बरतनी होगी। गुड़ खाना तो तुम बिल्कुल छोड़ दो।" रोगी खुशी खुशी अपने घर लौट गया और वैद्य की सलाह के अनुसार खान-पान करने लगा।

रोगी के चले जाने पर वैद्य के एक सहयोगी ने पूछा, "उसे आपने इतनी तकलीफ क्यों दी? वापस भेजकर पन्द्रह दिन बाद फिर बुलाया। उसी दिन कह देते – गुड़ न खाना।"

वैद्य ने हँसकर कहा – "इसका एक खास अर्थ है। जब वह पहली बार आया, उस दिन मेरे यहाँ गुड़ के बहुत-से घड़े रखे हुए थे। उस दिन यदि मैं कहता तो उसे विश्वास न होता। वह सोचता – जब इन्हीं के यहाँ इतना गुड़ रखा हुआ है, तो ये जरूर थोड़ा-बहुत गुड़ खाया करते होंगे। इसलिए गुड़ इतनी बुरी चीज नहीं हो सकती। मैंने पिछले पन्द्रह दिनों से गुड़ खाना बन्द कर दिया है। अतएव अब उसे मेरी बात पर विश्वास होगा।

जो धर्म-प्रचारक या आचार्य हैं, उन्हें कामिनी और कांचन का त्याग करना चाहिए। नहीं तो उनके उपदेश लोग मानते नहीं। केवल भीतर का त्याग होने से नहीं होता, बाहर भी त्याग होना चाहिए। लोक-शिक्षा तभी हो सकती है। नहीं तो लोग सोचते हैं, ये कामिनी-कांचन का त्याग करने को कह तो रहे हैं, परन्तु भीतर ये खुद उसका भोग कर रहे हैं।

यथार्थ त्यागी साधु यदि उपदेश देता है, तो उसका लोगों पर अधिक प्रभाव होता है। केवल विद्वानों की लिखी पुस्तकें पढ़कर या उनके उपदेश सुनकर उतनी धारणा नहीं होती। जिस वैद्य के पास ही गुड़ के घड़े रखे हों, वह यदि रोगी को उपदेश दे कि गुड़ न खाना, तो कोई उसकी बात नही मानता। आचरित धर्म का ही उपदेश करना चाहिए।

– १९ –

पिछले जन्मों के संस्कार

एक गाँव में एक शक्ति-साधक का निवास था। वह भगवती काली को प्रसन्न करने के लिए बीच बीच में श्मशान या जंगल में जाकर अनुष्ठान, साधना आदि किया करता था। एक अँधियारी रात को उसने जंगल के भीतर शव-साधना की तैयारी की। महान् कार्यों में अनेक विघ्न उपस्थित हुआ करते हैं। साधना करने के लिए वह जब शव पर बैठा, तो उसे तरह तरह की विभीषिकाएँ दिखने लगीं।

तभी घने जंगल के बीच से गरजता हुआ एक बाघ बाहर निकला। पास से गुजरता हुआ एक राहगीर झटपट एक वृक्ष पर चढ़ गया। तभी बाघ ने शव-साधक को देखा और उसे उठाकर जंगल में चला गया। बाघ के चले जाने के बाद काँपता हुआ वह राहगीर पेड़ से नीचे उतरा। उसने देखा कि साधना के लिए शव तथा अन्य सभी सामग्रियाँ तैयार रखी हैं। उसके मन में इच्छा जगी – क्यों न मैं भी थोड़ी शव-साधना करके देखूँ। आचमन करके शव के ऊपर बैठ गया।

थोड़ी देर जप करते ही जगदम्बा प्रकट होकर बोलीं – "मैं तुझ पर प्रसन्न हूँ – तू वर माँग ले।" माँ के पादपद्मों में प्रणत होकर वह बोला, "माँ, तू मेरी एक ही जिज्ञासा का समाधान कर दे। तेरी लीला देखकर मैं दंग रह गया हूँ। कहाँ तो उस व्यक्ति ने इतना परिश्रम करके इतना सब एकत्र किया, इतने दिनों से तुम्हें पाने के लिए साधना कर रहा था, उस पर तो तुम्हारी कृपा हुई नहीं; और दूसरी ओर मैं तो साधन-भजन, ज्ञान-भक्ति आदि कुछ नहीं जानता, पर अकारण ही मुझ पर प्रसन्न होकर तुम प्रकट हो गयी !"

भगवती ने हँसते हुए कहा, "बेटा, तुम्हें पिछले जन्मों की बात याद नहीं है। तुम अनेक जन्मों से मेरे लिए तपस्या कर रहे हो। तुम्हें भी न जाने कितनी बार बाघ उठाकर ले जा चुका है। यह तुम्हारा आखिरी जन्म था, अत: पूर्व-साधनाओं के बल से तुम्हें इस प्रकार सब कुछ तैयार मिल गया और मेरे दर्शन भी हो गये। अब कहो, क्या वरदान चाहते हो?"

भला हो या बुरा – कोई भी कर्म नष्ट नहीं होता। पिछले जन्मों के कर्मों के फलस्वरूप ही वर्तमान में हमें कई अवसर प्राप्त होते हैं। वर्तमान के कर्म भविष्य में फलदायी होते हैं।

– २० –

किसान द्वारा नहर काटना

वैराग्य दो तरह का है – तीव्र वैराग्य और मन्द वैराग्य। मन्द वैराग्य वह है जिसका भाव है, 'होता है – हो जायगा।' तीव्र वैराग्य शान पर लगाये हुए छुरे की धार है – माया के पाशों को तुरन्त काट देता है।

किसी देश में एक बार वर्षा कम हुई। खेत सूखने लगे; चारों ओर हाहाकार मच गया। किसान नालियाँ काट-काटकर दूर से पानी लाते थे। एक किसान अपने धुन का बड़ा पक्का था। एक दिन उसने शपथ ली कि जब तक अपना खेत नहर से न जुड़ जाय, तब तक नाली खोदता रहूँगा। इधर नहाने का समय हुआ। उसकी स्त्री ने लड़की को उसे बुलाने भेजा। लड़की बोली, "पिताजी, दोपहर हो गयी, चलो, माँ तुमको बुलाती है।" उसने कहा, "तू चल, हमें अभी काम है।" तीसरा पहर हो गाया, पर वह काम पर डटा रहा। नहाने-खाने का नाम तक नहीं लिया। तब उसकी स्त्री खेत में जाकर बोली, "नहाओगे या नहीं? रसोई ठण्डी हो रही हैं। तुम तो हर काम में हठ करते हो। काम भोजन के बाद या कल कर लेना।" किसान कुदाल उठाकर स्त्री को गालियाँ देता हुआ मारने दौड़ा। बोला, "तेरी बुद्धि मारी गयी है क्या? देखती नहीं कि पानी नहीं बरसता; खेती सूख रही है; अब की बार लड़के-बच्चे क्या खाएँगे? सब भूखों मरेंगे। मैंने ठान लिया है कि पहले खेत में पानी लायेंगे, नहाने-खाने की बात पीछे होगी।"

मामला टेढ़ा देखकर उसकी स्त्री वहाँ से लौट पड़ी। दिन भर जी-तोड़ परिश्रम करके किसान ने शाम के समय नहर के साथ खेत को जोड़ दिया। फिर एक किनारे बैठकर देखने लगा, किस तरह नहर का पानी 'कल-कल' स्वर से बहता हुआ खेत में आ रहा है, और तब उसका मन शान्ति और आनन्द से भर गया। घर पहुँचकर उसने स्त्री को बुलाकर कहा, "अब ले आ बाल्टी और रस्सी।" इसके बाद उसने निश्चिन्त होकर स्नान-भोजन किया और फिर सुखपूर्वक सोकर खर्राटे भरने लगा। तीव्र वैराग्य में ऐसी ही जिद होती है।

एक अन्य किसान भी खेत में पानी लाने के लिए गया था। उसकी स्त्री ने जब जाकर कहा, "चलो अब, धूप बहुत हो गयी, इतना काम नहीं करते।" तब वह कुदाल को चुपचाप एक ओर रखकर बोला, "अच्छा, तू कहती है तो चल।" वह किसान खेत में पानी न ला सका। यह मन्द वैराग्य की उपमा है। 'बनत बनत बनि जाई', 'चलो राम भजो', यह सब मन्द वैराग्य है।

जिसे तीव्र वैराग्य होता है, उसके प्राण भगवान के लिए वैसे ही व्याकुल रहते हैं, जैसे माँ का हृदय अपनी कोख के बच्चे के लिए। जिसे तीव्र वैराग्य है, वह ईश्वर को छोड़ और कुछ नहीं चाहता; संसार को कुआँ समझता है; उसे लगता है कि अब डूबा; सगे-सम्बन्धियों को काला नाग देखता है, उनके पास से भागने की इच्छा होती है और भागता भी है। 'घर का काम पूरा कर लें तब ईश्वर की चिन्ता करेंगे' – यह उसके मन में आता ही नहीं। भीतर बड़ी जिद रहती है। हठ के बिना मनुष्य ईश्वर-दर्शन नहीं कर सकता।

मुण्डक उपनिषद : एक चिन्तन (३/२)

स्वामी सत्यरूपानन्द

(कोलकाता के भारतीय संस्कृति संसद में विगत २४ से २६ जून के दौरान हुए तीन व्याख्यानों का अनुलिखन)

इसमें जिस अविद्या की बात है, उस अविद्या को भी थोड़ी समझ लेनी चाहिए। कोई भी उपनिषद् या वेदान्त-सार को थोड़ा पढ़ ले, तो क्या वह विद्वान् और ज्ञानी हो गया? अविद्या से हम सामान्यत: यह समझते हैं कि जो आदमी पढ़ा-लिखा नहीं है या कम पढ़ा-लिखा हुआ है। बेचारा कुली का काम करता है। अरे, वह क्या? उसे कुछ मालुम नहीं, वह मूर्ख है। जो बहुत पढ़ा लिखा है, जिसके पास बहुत-सी डिग्रियाँ हैं, जो लच्छेदार भाषा में बोल सकता है, जिसे कई भाषाओं का ज्ञान है, सब कुछ कण्ठस्थ है, उसको हम विद्वान् समझते हैं। उपनिषद् में अविद्या का अर्थ यह नहीं है। उपनिषद् या पूरी आध्यात्मिक संस्कृति में, पुराणों में, हमारे नीतिशस्त्रों में, गीता में भी अविद्या का अर्थ है – जो वस्तु जैसी है, उसको वैसी न देख पाना, न जान पाना और उल्टा समझना। गीता कहती है – **ज्ञानं आवृत्य तिष्ठति** – अज्ञान ज्ञान को ढँका हुआ रहता है। जब इस दृष्टि से हम अविद्या का विचार करते हैं, तब हमें वास्तविक अविद्या की पहचान होती है। हम बहुत बड़े पंडित, पी.एच.डी., डी.लिट् हो सकते हैं। संसार के बहुत से विज्ञानों, उनकी विधाओं को जान सकते हैं। किन्तु ऐसे लोग भी सत्य को नहीं देख पाते। अब विद्वान् कौन है? जो व्यक्ति वस्तु जैसी है, उसे वैसी ही देखता है, वह विद्वान् है। वेदान्त कहता है, अब इसको अपने ऊपर घटाओ। जैसे परमानन्द जी ने सोने के विभिन्न प्रकार के जेवरों के बारे में कहा था। जेवरों के रूप में वे अलग-अलग हैं, लेकिन सोने के रूप में वे एक हैं। मिथ्या का क्या अर्थ है? वेदान्त कहता है, कि मिथ्या माने झूठ नहीं है। त्रिकाल में उसका अस्तित्व नहीं है, ऐसा नहीं है। जैसे घोड़े की सींग है। घोड़े की सींग होती ही नहीं है। यह एकदम मिथ्या है। वेदान्त में मिथ्या का तात्पर्य है अनित्य। जैसे सोना और जेवर। सोने के गहने, इसमें गहने मिथ्या हैं और सोना सत्य है। कैसे? सोने की अँगूठी, गले का हार, कान का कर्णफूल विभिन्न प्रकार के जेवरात हैं। ये जेवर बनने के पहले ऐसे नहीं थे और अभी हैं। फैसन बदल गया। बहनों को लगा कि यह पुराना हो गया, फिर से इसको गलाकर नया जेवर बना लिया। जो थोड़ी देर के लिए है, जो बदल सकता है, पहले नहीं था, बीच में है और फिर नहीं रहेगा, उसका नाम मिथ्या है। मिथ्या का अर्थ यह नहीं है कि वह कभी था ही नहीं। वेदान्त जब जगत् को मिथ्या कहता है या हमको आपको समझाता है, उसे सोचकर देखिए। उपादान, जिससे वस्तु बनी है। जेवर में सोना उपादान है, कपड़े में कपास उपादान है, घड़े में मिट्टी उपादान है। आप सोचकर देखिए, बिना मिट्टी के घड़ा, बिना सोने का जेवर हो सकता है क्या? घड़े के रूप में मिट्टी सत्य है। सोने के जेवर के रूप में सोना सत्य है। उसके विभिन्न रूप अँगुठी, कर्णफूल आदि मिथ्या हैं। मिथ्या इसलिए कि जब समय आएगा, ये बदल जाएँगे, नहीं रहेंगे। पर सोने को आप मिटा नहीं सकते। सोना, सोना ही रहेगा। इसी प्रकार जिस दिन यह बात समझ में आ जाएगी, वेदान्त जिसे विभु कहता है, वह तुम्हारे ही भीतर सर्वदा विद्यमान है। इसे जिस दिन हमने समझ लिया, बाकी चीजें हमें अस्थायी लगेगीं, उसमें दोष नहीं होगा। अब थोड़ा सा विचार करके देखें कि यदि हमने ज्ञान को प्राप्त नहीं किया तो क्या होगा? दूसरे धर्मों की बात नहीं कर रहा हूँ। हमारे हिन्दू धर्म में ऐसे सम्प्रदाय हैं, बंगाल में कुछ ऐसे वैष्णव सम्प्रदाय हैं, जो हमलोगों की बहुत निन्दा करते हैं। कहते हैं कि इन्होंने धर्म को नष्ट कर दिया। चैतन्य महाप्रभु ने स्पष्ट कहा है कि सन्यास कलिवर्ज्य है। कलियुग में सन्यास नहीं लेना चाहिए। फिर दूसरे दल के लोग कहते हैं कि ये कैसे आदमी हैं! ऐसी विभत्स मूर्ति की पूजा करते हैं, जो जीभ निकाले, बाल फैलाए, एक महिला है, जिसके गले में मुण्डमाला है। वह मनुष्य के कटे हाथों की करघनी पहनी है। एक हाथ में कटा हुआ मुंड ली हुई है। उससे खून टपक रहा है। इनका मुँह मत देखो, इनका नाम मत लो। यदि गलती से दिख जायँ या नाम लो तो उपवास करके कहते रहो – क्षमा करें गोविन्द! जय गोविन्द! जय राम राम! यह कब होता है? जब हम आधार सोने को भूलकर जेवर को ही सत्य मान लेते हैं। आपको जन्म भर लड़ना पड़ेगा। आप कहेंगे जेवर सत्य है, तो मैं कहूँगा जेवर माने अँगुठी। आप कहेंगे तुम मूर्ख हो। जेवर माने हार। अब लड़ते रहो। अब कल से जेवर को हार और हार को जेवर बनाएँगे। सोने के आधार नहीं रहे। वेदान्त ने कहा कि काली भी सत्य हैं और कृष्ण भी सत्य हैं। क्यों दोनों सत्य हैं? क्योंकि दोनों सोना है। काली का नाम-रूप हटाओ और कृष्ण का नाम-रूप हटाओ, तो जो बचेगा, वही आधार है, वही ब्रह्म है। इसलिए वेदान्त का ज्ञान आवश्यक है। यदि न मानें तो घंटाकर्ण की कथा आपलोगों ने सुनी होगी। एक शिव भक्त थे। भगवान शिव से भिन्न किसी देवी-देवता या भगवान का दूसरा नाम वे सुनना नहीं चाहते थे। इसलिए

उन्होंने अपने कानों में घण्टे बाँध रखे थे। जब भी कोई व्यक्ति भगवान शिव को छोड़कर भगवान का कोई दूसरा नाम लेता तो ये भक्त अपने कानों में घण्टे बजाने लगते, जिससे कि उन्हें भगवान का दूसरा नाम सुनाई न पड़े। हम हिन्दुओं में अभी भी वैसे लोग हैं, जो अपने इष्ट के मन्दिर को छोड़कर अन्य मन्दिरों में नहीं जाते हैं, दूसरे किसी आश्रमों में नहीं जाते हैं। दूसरे किसी मन्दिर का प्रसाद नहीं खाते हैं। ये मुसलमान हैं, ये ईसाई हैं, इनसे छूत लग जाएगी, दूर रहो। श्रीरामकृष्णदेव ने तो इस्लाम धर्म की साधना की। अब आप इन लोगों को कैसे समझाएँगे? अत: हमने देखा कि वेदान्त छोड़कर दूसरा कोई उपाय नहीं है। जब आप उपनिषद् की बात करेंगे तब हम कहेंगे कि आपके बाल गोपाल, हमारे रामलला, इनके शिव, इनके काली, इनके रामकृष्ण, ये सब जिस आधार पर खड़े हैं, उसे देखो। वही सत्य है, वही ब्रह्म है, उसी ने यह सब धारण किया है। इसलिए आवश्यक है कि हम वेदान्त का ज्ञान प्राप्त करें। अरुण जी मुझसे पूछ रहे थे कि क्या आप ब्रह्मचारियों को पुराण आदि पढ़ाते हैं। मैंने कहा, नहीं। हम उन्हें वेदान्त पढ़ा देते हैं, फिर वे स्वयं पुराण आदि पढ़ लेते हैं। पर केवल पुराण पढ़ें, वेदान्त न पढ़ें, तो वे लोग भी वही बात कहने लगेंगे कि काली-कृष्ण आदि अलग अलग हैं। एक बहुत बड़े आचार्य थे। मैं नाम नहीं बताऊँगा शायद अभी वे होंगे। वे वैष्णव धर्म के बहुत बड़े आचार्य थे। उनके बहुते से शिष्य थे। बहुत पहले कलकत्ते में भी एक-दो बार भागवत कथा के लिए शायद आए थे। वे वैष्णव पन्थ के बहुत प्रसिद्ध आचार्य हैं। ऐसे संयोग की बात है कि मैं और मेरे एक मित्र स्वामी निखिलात्मानन्द जी, जो अभी रामकृष्ण मिशन, नारायणपुर के सचिव हैं। हम दोनों तब ब्रह्मचारी थे। ३५-४० साल पहले की बात है। जब 'विवेक-ज्योति' पत्रिका प्रारम्भ हुई थी, तब उसके प्रचार-प्रसार के लिए हमलोगों को बम्बई में जगह जगह घूमना पड़ता था। लगभग एक महीना हमलोग वहाँ रहे। संयोग से उसी जगह प्रेम कुटीर में वे वैष्णव आचार्य जी रहते थे। हम दोनों के आचार-व्यवहार को देखकर उनको लगा कि अरे, ये तो दूसरे साधु-ब्रह्मचारियों से भिन्न हैं। उन्होंने तो चीमटाधारी गाँजा पीने वाले स्वेच्छा से भ्रमण करने वाले साधु-ब्रह्मचारियों को देखा था। हमलोगों को देखकर, बातचीत कर उन्हें लगा कि ये तो पढ़े-लिखे लड़के हैं। इनका व्यवहार भी अच्छा है। आज से ३५-४० साल पहले हमलोग इतने बूढ़े नहीं थे। २४ घंटे साथ में रहते थे, तो देख लिया कि प्रभु की कृपा से इनमें कोई दुर्गुण नहीं है। आचार्य जी भागवत और संस्कृत के विद्वान थे। फिर उनसे हमलोगों की मैत्री हो गई। वे स्वयंपाकी थे। दूसरे के हाथ का बनाया हुआ खाना नहीं खाते थे। अपने स्वयं भोजन बनाते थे, गोपाल जी का भोग लगाते थे और खाते थे। हमलोगों से प्रेम हो गया। हमलोग बहुत उनसे मजा करते थे। भक्त लोग जो कुछ लाते थे, वे हम दोनों को बहुत खिलाते थे। उन्होंने एक दिन हमसे एक बात कही – देखो, ब्रह्मचारी जी, आप दोनों को एक बात कहूँ। आपलोग मुझे बहुत अच्छे लगते हैं। ८-१० दिनों से देखकर ऐसा लगा कि आपलोग सद्‌गुणी हैं, अच्छे हैं। रामकृष्ण मिशन में हैं। ठीक है, मिशन भी अच्छा काम करता है। हमारे वृन्दावन में भी रामकृष्ण मिशन का अस्पताल है। पर, एक बात कहूँ। मैंने कहा – हाँ, कहिए। उन्होंने कहा – वह बात कहूँ तो मुझे पाप लगेगा, प्रायश्चित करना पड़ेगा। फिर भी आपलोगों के लिए मैं कहता हूँ। मैंने ऐसा सुना है कि आपके पंथ में 'अहं ब्रह्मास्मि' – मैं ब्रह्म हूँ, ऐसा सिखाया जाता है। इतना कहकर उन्होंने – गोविन्द! गोविन्द! गोविन्द! कहा, थोड़ा सा गंगाजल पीया, तुलसी पत्ता खाया। फिर उन्होंने कहा – गोविन्द! गोविन्द! यह कहना कि 'मैं ब्रह्म हूँ' 'मैं भगवान हूँ' महान पाप है। इतना कहकर उन्होंने फिर से तुलसी-पत्ता खाया। फिर कहने लगे – ब्रह्मचारीजी! पापी हिरण्यकश्यप भी यही तो कहा करता था कि मैं भगवान हूँ। कभी उनके चक्कर में मत पड़ना। 'अहं ब्रह्मास्मि' कहना महापाप है, गोविन्द! गोविन्द! गोविन्द! अब देखिए, वे इतने बड़े संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान थे, भागवत के आचार्य थे, फिर भी उनमें उदारता का आभाव था। यह सच्चाई है। कई वर्षों बाद एकाध बार और उनसे मिलने का अवसर मिला। तब वे थोड़े बदल गए थे। तब हम सन्यासी हो गये थे। उन्होंने कहा, हाँ, हाँ, बहुत अच्छा है। आपका मार्ग भी ठीक है। आप अपने मार्ग से चलिए। यदि हम वेदान्त को स्वीकार न करें तो यह अन्धविश्वास, कट्टरता हममें आ ही जायेगी। वेदान्त कहता है कि ईश्वर अनन्त है, ब्रह्म अनन्त है तो उसके अनन्त प्रकाश हो सकते हैं। वह कृष्ण भी हो सकता है। वह ईसा और मुहम्मद भी हो सकता है। लेकिन यदि हम इस आधार को नहीं स्वीकार करेंगे, तो हम ईसा, मुहम्मद और काली में ही अटक जाएँगे। क्यों हमलोग इसमें अटके हुए हैं? क्योंकि कुछ लोग कहते हैं कि इसके सिवाय और कोई उपाय नहीं है। यदि आप ईसा मसीह के द्वारा न जाएँ तो जहन्नुम में, इटरनल हेल में जाएँगे। वे कहते हैं कि ईश्वर को सिर्फ ईसा मसीह के द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। हम कहते हैं, ईश्वर को ईसा मसीह के द्वारा भी प्राप्त किया जा सकता है और काली, कृष्ण के द्वारा भी। यह वेदान्त ज्ञान के द्वारा ही सम्भव है। वेदान्त की इस धारणा को मुण्डक उपनिषद् हमें बताता है। इसलिए जो अविद्या है, वह वेदान्त के ज्ञान को नहीं समझने के कारण ही होती है। वे कौन लोग हैं, जो संसार मे ही रहकर, संसार के दु:खों से मुक्त

होकर, अपनी साधना से आनन्द की प्राप्ति करते हैं? वेदान्त में जीवन-मुक्त की बात है। मरने के बाद जो होगा, सो तो होगा ही। गीता कहती है –

इहैव तैः जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः ।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः ।।
(गीता-५-१९)

– जिनका मन समत्व भाव में स्थित है, उनके द्वारा इसी संसार में, जीवित अवस्था में ही सम्पूर्ण संसार जीत लिया जाता है। क्योंकि ब्रह्म, परमात्मा निर्दोष है और सम है, इससे वे ब्रह्म, परमात्मा में ही अवस्थित हैं।

ऋषि अंगिरा शौनक से कह रहे हैं कि जो मैंने तुमको बताया है। उसका पालन करोगे तो क्या होगा? ब्रह्मविदों ने मुझे बताया है, मुझे आप्त पुरुषों ने बताया है –

तपः श्रद्धे ये हि उपवसन्ति अरण्ये
शान्ता विद्वांसो भैक्ष्यचर्यां चरन्तः ।
सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति
यत्र अमृतः सः पुरुषो हि अव्ययात्मा ।।
(मुंडक-१/२/११)

– जो तपस्वी, संयमी और श्रद्धालु हैं तथा जो भीक्षार्थ विचरण करने वाले वनवासी शान्तचित्त विद्वान हैं। वे रजोगुण से रहित होकर सूर्य-द्वार से वहाँ जाते हैं, जहाँ वह अमृत, अव्यय, परम पुरुष रहता है।

ऋषिगण ऐसा कहते हैं कि जीवनमुक्ति की अवस्था प्राप्त करने के लिए सब कुछ छोड़कर सन्यास ग्रहण कर वन में जाना पड़ेगा। पर बहुत से आधुनिक आचार्य और विद्वान् कहते हैं कि ऐसा नहीं है। स्वामी अखण्डानन्द सरस्वती जी महाराज और रामकृष्ण संघ के सभी संघ-गुरुओं ने कहा है। और भी दूसरे आचार्यों जैसे रामसुखदास जी महाराज, ने अपने गीता प्रवचन में भी यह बात कही है। यहाँ पर **उपवसन्ति अरण्ये** से तात्पर्य वानप्रस्थी से है। जिन्होंने अपने जीवन में गृहस्थ-धर्म का पालन कर लिया, गृहस्थ के सभी सुख भोग लिए। उनकी संतानें योग्य हो गयीं। अब वे धीरे धीरे निवृत्ति के मार्ग में जा रहे हैं। जो कुछ भी हमें प्राप्त करना था, उसे हमने प्राप्त कर लिया। धीरे धीरे अब तुम संभालो। अब हम क्या करेंगे? तप और श्रद्धा लेकर, श्रद्धा सहित जीवन में तपस्या करेंगे।

तपस्या क्या है? प्रपंच से, संसार से विराग और ईश्वर से राग, प्रेम, यही तपस्या है। अब हमारा मन परमार्थ में लगे। राम कहें, कृष्ण कहें, जो भी कहें। वेदान्त की चर्चा इसलिए कि हमारा मन परमार्थ में लगे। यह प्रयत्न – तपस्या श्रद्धापूर्वक करते हुए ये साधक शान्तचित्त रहते हैं। पहले घर-गृहस्थी के काम में लगे रहते थे। अशान्ति के बहुत से कारण थे। अब अपने उत्तराधिकारियों को वह सब कार्य सौंप दिया है। अब यह वानप्रस्थ का समय है। इसकी २५ वर्ष साधना करेंगे। ईश्वर से विनती करें और अन्त में सन्यास में जाएँगे। अतः जिन्होंने अपनी मुक्ति के लिए अभ्यास के द्वारा, साधना के द्वारा, प्रार्थना के द्वारा चित्त को शान्त और शुद्ध कर लिया है। ऐसे जो वानप्रस्थी लोग हैं, जिन्होंने अपने मन को शान्त कर लिया है, जिन्होंने सारे शास्त्र अपराविद्या को पढ़ लिया है, पर अब ब्रह्म जैसा है, उसको वैसा समझने का प्रयत्न कर रहे हैं। ऐसे विद्वान जिनको अपरोक्ष अनुभूति हुई है। जैसे हम अपने हृदय में अपरोक्ष प्रेम की अनुभूति करते हैं। ऐसे विद्वान सन्यासी लोग भीक्षा करके जीवन बीताते हैं। वानप्रस्थी भी पहले भीक्षा करते थे। वर्तमान में वानप्रस्थी भीक्षा नहीं करते। किन्तु, उनके भी सभी रजोगुण समाप्त हो गए हैं। सभी कामनाएँ, वासनायें, समाप्त हो गयी हैं। तब मन में प्रश्न उठता है कि देह छोड़ने के बाद मनुष्य कहाँ जाता है? **यत्र अमृतः सः पुरुषो हि अव्ययात्मा** ।। (मुंडक-१/२/११) – ऐसे लोग वह अव्यय आत्मा पुरुष जहाँ है, वहाँ जाते हैं। थोड़ा इस मन्त्र में आने-जाने को समझ लें। यह आना-जाना ऐसा नहीं है। जैसे हम यहाँ से रायपुर गए, वहाँ से दिल्ली चले गए। १७-१८ तारीख को गए और १९ तारीख को गए। देश-काल में गमन नहीं। वह देश-काल से परे है। जहाँ वह रहता है, वहाँ सः अमृतः पुरुषः – वह पुरुष विद्यमान है। देश-काल आदि से अपरिच्छिन्न, उससे रहित हमारे भीतर जो सदैव वर्तमान है, उसका हम अनुभव कर लेते हैं। यह है अपरोक्ष अनुभूति। वहाँ पर जाने का यही तात्पर्य है। अमृतः पुरुषः हि अव्ययात्मा – वह अव्यय कभी छोटा-बड़ा न होने वाला शाश्वत जो पुरुष है, परमात्मा है, वही हमारी आत्मा है। वह हमारे अन्तःकरण में विराजमान है। हमको इस प्रकार की तपस्या से यह अपरोक्ष अनुभूति होती है। जैसे हमने अपने माँ के प्रेम की अपरोक्ष अनुभूति की है। जिसको हम आप अच्छी तरह जानते हैं। हम अपनी माँ को प्यार करते हैं। आप हमारा शरीर समाप्त सकते हैं, पर वह भावना समाप्त नहीं कर सकते, क्योंकि अपरोक्ष अनुभूति हो गयी है। क्योंकि रोम-रोम में उसका हमें अनुभव हो रहा है। ब्रह्म की अपरोक्ष अनुभूति के लिए हम क्या करें? ऋषि बता रहे हैं कि हमें क्या करना है –

परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो
निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन ।
तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्
समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् ।। (मु.१/२/१२)

– ब्राह्मण कर्म से प्राप्त होने वाले लोकों की परीक्षा करके वैराग्य को प्राप्त हो जाय। क्योंकि केवल कर्मों से स्वतः

सिद्ध परमेश्वर नहीं प्राप्त हो सकता। वह साधक उस परब्रह्म के ज्ञान की प्राप्ति हेतु हाथ में समिधा लिए वेदज्ञ परब्रह्म परमात्मा में स्थित गुरु के पास श्रद्धापूर्वक जाय।

ब्राह्मण का अर्थ क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र चतुवर्ग के अन्तर्गत आनेवाला ब्राह्मण नहीं है। जो ब्रह्म की प्राप्ति में, सत्य की प्राप्ति में लगा हुआ साधक है, वह ब्राह्मण है। याद रखिए, चाहे हमारा जन्म डोम के वंश में हुआ हो या अन्त्यज के घर में, पर यदि सत्य पाने के प्रयत्न में हम लगे हैं, तो ब्राह्मण हैं। ब्राह्मण कौन है गीता इसका स्पष्ट निर्देश करती है –

शमो दमः तपः शौचं क्षान्तिः आर्जवम् एव च।
ज्ञानं विज्ञानम् आस्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्।
(गीता-१८/४२)

– शाम, दम, पवित्रता, तप, क्षमा, सरलता, आस्तिक्य बुद्धि, शास्त्रविषयक ज्ञान एवं परमात्म तत्त्व का अनुभव, ब्राह्मण के स्वाभाविक कर्म हैं। जो ब्रह्म का अनुसंधान करता है, उसमें ये सभी सद्गुण आ जाते हैं। **परीक्ष्य लोकान्** – कर्म से प्राप्त होने वाले लोक की परीक्षा करो। माता श्रुति और ऋषि भी यह नहीं कहते कि हम कह रहे हैं, इसलिए मान लो। भगवान ने तुमको बुद्धि दी है, तुम अपनी बुद्धि से कर्म द्वारा प्राप्त होने वाले लोक की परीक्षा करके देखो। यह लोक जिसका तुम अनुभव कर रहे हो, जिसका तुमने सुख लिया है, जिसमें तुम रह रहे हो, जिसका तुमने उपभोग किया है, यह अनन्त काल तक रहने वाला नहीं है। क्या इससे तुमको स्थायी शान्ति मिली है? आज से २५-३० साल पहले जैसे थे, आज वैसे हो क्या? क्या वार्धक्य से बच सकते हो? भगवान श्रीकृष्ण गीता में कहते हैं – **जन्म मृत्यु जरा व्याधि दु:खदोष अनुदर्शनम्** – जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधि आदि दोष दु:खरूप हैं। उन पर सतत् विचार करो। यह उपनिषद् क्या है? परीक्ष्य लोकान् कर्म चितान् – यह लोक या स्वर्ग आदि कर्म से प्राप्त होते हैं, इसलिए अनित्य हैं, इस पर विचार करके देखो। निर्वेदमायात् – वैराग्य प्राप्त करो। वैराग्य माने बाबाजी हो जाना नहीं है। नित्य-अनित्य का विचार कर अनित्य को त्यागना ही वैराग्य है।

मन में जब वैराग्य आ गया, वानप्रस्थ की अवस्था आ गयी और अभी आप ५० वर्ष के नहीं हुए हैं। उसके लिए यह आवश्यक नहीं कि ५० वर्ष तक रूका जाय। ३० वर्ष की अवस्था में भी अगर ऐसा लगा कि बहुत हो गया, तो उसी समय छोड़ा जा सकता है। स्वामी विवेकानन्द के एक दादा जी थे। उनके पिता के पिता। उनका नाम दुर्गादास दत्त था। अपने युग के वे संस्कृत, फारसी आदि भाषाओं के बड़े विद्वान थे। बहुत साधु-संग करते थे। बहुत उच्च कोटि के साधक थे। वे विवाह करना नहीं चाहते थे। लेकिन घर के परम्परानुसार जब वे वयस्क हुए, तो घर के लोगों ने बहुत आग्रह करके उनका विवाह कर दिया। वे विद्वान थे, शास्त्रादि पढ़ते थे। उन्होंने शास्त्र में पढ़ा कि गृहस्थ का कर्तव्य है कि एक पुत्र, सन्तान हो जाय तो वह संसार-त्याग कर सकता है। उसके बाद विश्वनाथ बाबू, जो स्वामी विवेकानन्द के पिता जी थे, उनका जन्म हुआ। जन्म होने के बाद ही जैसे भगवान बुद्ध चले गए थे, वैसे ही दुर्गादास बाबू भी चले गए। बरसों फिर उनका पता नहीं लगा। जाकर सन्यासी हो गये थे। किन्तु प्रसंग में दो घटनाएँ आपको बताऊँ। इससे सिद्ध होता है कि कैसे विचार करना चाहिए। एकबार उनकी पत्नी अर्थात् स्वामी विवेकानन्द की दादी काशी विश्वानाथजी का दर्शन करने गयीं। शायद बरसात का मौसम था। गली में कींचड़ था और बहुत भीड़ थी। लोग उसी में से जा रहे थे। अचानक पैर फिसल गया और ये एकदम धड़ाम से गिर गईं। एक सन्यासी ने देखा कि एक महिला वहाँ गिर गयी है। तुरन्त उन्होंने उसे सहारा देकर उठाया। तुरन्त उन्होंने पहचान लिया कि वह महिला उनकी पत्नी है। तुरन्त उन्होंने 'माया-माया' कहकर वह स्थान त्याग दिया। फिर कभी पता नहीं लगा कि वे कहाँ गये। एक बार वे कलकत्ता आए थे। लोग कहते हैं कि १२ वर्ष बाद सन्यासी को अपनी जन्मभूमि का दर्शन कर लेना चाहिए। पर, रामकृष्ण मिशन में ऐसे कई सन्यासी हैं, जिन्होंने ४०-४२ वर्षों से अपनी जन्मभूमि नहीं देखी। दुर्गादास बाबू कलकत्ता आए और अपने एक पुराने मित्र के यहाँ रुके। उन्होंने अपने पुराने मित्र से कहा कि मेरे आने के संबंध में किसी को मत बताना। मित्र बताने का लोभ संवरण नहीं कर सके। उन्होंने जाकर सबको बता दिया। सुनकर घर के लोग आए और दुर्गादास बाबू को पकड़कर ले गए और कोठरी में बन्द कर दिए। अब क्या करते। दुर्गादास बाबू ने १२ वर्षों तक कठिन साधना की थी। वे अपना आसन लगाकर बैठ गए। खाना-पीना सब कुछ बन्द कर दिया। भोजन तो बन्द किया ही, पानी पीना भी बन्द कर दिया। तीन दिन बीत गए। तब दूसरे लोगों ने घर के लोगों से कहा कि अरे, ये मर जाएँगे, इससे तुमको महान पाप लगेगा। तब घर वालों ने दरवाजा खोल दिया। फिर वे चले गए। वे कहाँ गए, पता नहीं लगा।

❖ (क्रमश:) ❖

माँ को मैंने जैसा देखा

स्वामी गौरीश्वरानन्द

माँ श्री सारदा देवी दैवी मातृत्व की जीवन्त विग्रह थीं। उनके अनेक शिष्यों तथा भक्तों ने उनकी मधुर-पावन स्मृतियाँ लिपिबद्ध कर रखी हैं। हमारे लिए बँगला ग्रन्थ 'श्रीश्री मायेर पदप्रान्ते' से इस लेख का अनुवाद किया है इलाहाबाद की श्रीमती मधूलिका श्रीवास्तव ने। – सं.)

(गतांक से आगे)

उन दिनों जयरामबाटी में पढ़े-लिखे लोगों की संख्या अति अल्प थी। महिलाओं में २-४ ही बँगला में अपना नाम लिख पाती थीं। माँ कहतीं – "बनर्जी-परिवार में एक बहू आयी है। वह कलकत्ते की लड़की है। घड़ी में चाबी देना जानती है।" घड़ी में चाबी देना जानना माँ की दृष्टि में बड़ी बुद्धिमत्ता का काम था। क्योंकि उन्होंने बी.ए.-एम.ए. पांस और हाथ में घड़ी बाँधे लड़कियों को कभी नहीं देखा था। वे लालटेन की भी सफाई नहीं कर पातीं। कहतीं – "बेटा, तू ही कर। इसमें बहुत कल-पुर्जे हैं, मुझसे नहीं होगा।" इधर माँ तो 'वर्ण-परिचय'[१] का पहला भाग पूरा करके दूसरे भाग की पहली पंक्ति का एक 'ऐक्य, माणिक्य तथा कुवाक्य' तक ही सीख पायीं थी कि भांजे हृदय ने उनके हाथ से किताब छीनकर कहा था – "स्त्रियों का अधिक लिखना-पढ़ना अच्छा नहीं। नहीं तो चरित्र ठीक नहीं रहता – छिप-छिपकर लड़कों के साथ पत्र-व्यवहार करेंगी और और नाटक-उपन्यास पढ़ेंगी।"

लेकिन बड़े आश्चर्य की बात कि अक्षर-ज्ञान न रहते हुए भी आध्यात्मिक विषयों में माँ का ज्ञान पूर्ण था। उस समय मैं आयु में छोटा था। भक्त और साधु-ब्रह्मचारी-गण माँ से अनेक प्रश्न करते। मुझे भय लगता माँ तो 'कुवाक्य' तक ही पढ़ी हैं, क्या इन सब प्रश्नों का उत्तर दे पायेंगी? ये लोग बेलूड़ मठ जाकर पूजनीय स्वामी ब्रह्मानन्द, स्वामी शिवानन्द, स्वामी सारदानन्द आदि से क्यों नहीं पूछते? वे लोग कितना शास्त्रपाठ करते हैं! लेकिन माँ कभी कहती नहीं कि – 'इन प्रश्नों के उत्तर राखाल, तारक या शरत् से पूछो।' वे सबके प्रश्न सुनतीं और ऐसा उत्तर देतीं कि प्रश्नकर्ताओं की सारी शंकाओं का समाधान हो जाता। मैं उस आयु में उन प्रश्नों का अर्थ और माँ जो उत्तर देतीं उनका भी अर्थ नहीं समझता था, पर देखता कि जिनका प्रश्न है, वे बड़े प्रसन्न हो जाते।

'उद्बोधन', 'तत्त्वमंजरी' आदि पत्रिकाओं के आने पर माँ पूछतीं – "उद्बोधन में शरत् का लिखा हुआ कुछ निकला है क्या?" कुछ रहने पर पढ़ने को कहतीं। एक बार तत्त्वमंजरी में संस्कृत का एक श्लोक प्रकाशित हुआ था। पढ़कर सुनाने पर माँ बोलीं – "बँगला में बता।" उसमें आये 'देशिकेन्द्रम्' आदि शब्दों का अर्थ ज्ञात न होने और वहाँ शब्दकोष भी न होने के कारण मैं बोला – "सारे शब्दों का अर्थ मैं नहीं जानता। स्कूल जाकर पण्डित महाशय से समझने के बाद आकर आपको सुनाऊँगा।" लेकिन उन्होंने छोड़ा नहीं। बोलीं – "जितना जानता है, वही बता।"

छोटे-छोटे विषयों में भी माँ की तीक्ष्ण दृष्टि रहती। एक दिन खाने के पत्तलों पर हल्का-सा पानी छिड़ककर मैं उन्हें बिछाने लगा, तभी माँ बोल पड़ीं – "अहा! लड़के खायेंगे, अच्छी तरह धो ले, नहीं तो धूल रह जायेगी। जब तक मेरे शरीर में शक्ति थी, तब तक मैं हर पत्ते को धोकर कपड़े से पोछती थी।" एक अन्य दिन जब मैं भोजन के आसन बिछा रहा था, वे अपने कमरे के बरामदे से देखकर बोलीं – "सीधा नहीं है।" मेरे थोड़ा-बहुत परिवर्तन करने पर भी बोलीं – "अब भी सीधा नहीं हुआ।" मैं समझ नहीं पा रहा था कि भूल कहाँ हो रही है, अत: वे स्वयं आकर ठीक से आसन बिछा गयीं। तब मैंने देखा कि अब सभी आसन समान दूरी पर और सामने से सीधी रेखा में हैं।

एक दिन एक संन्यासी वाराणसी से एक बहुत बड़ा बेल का फल ले आये थे। माँ ने वह बेल अपनी खाट के नीचे रख दी थी। वे नलिनी दीदी के कमरे के बरामदे में बैठकर सब्जियाँ काट रही थीं। मैं भी उनके साथ बैठा सब्जियाँ काट रहा था। कार्य पूरा हो जाने पर उन्होंने मुझे बेल ले आने को भेजा। मैंने इतना बड़ा बेल कभी नहीं देखा था। उसे कुम्हड़ा समझकर मैंने कहा – "आपके खाट के नीचे तो बेल नहीं है माँ।" माँ बोलीं – "मैंने स्वयं रखा है, कहाँ चला जायगा? ठीक से देख।" मैंने फिर कहा – "नहीं माँ, बेल तो नहीं है।" इस पर वे बोलीं – "खाट के नीचे क्या है?" मैंने उत्तर दिया – "एक कुम्हड़ा है।" तब वे हँसते-हँसते बोलीं – "वह कुम्हड़ा ही ले आ।" हाथ में लेते ही मैं समझ गया – "अरे, यह तो बेल है।" तब माँ और भी हँसने लगीं।

१. विद्यासागर-रचित बच्चों को अक्षर-ज्ञान कराने की पुस्तक – सं.

एक बार पाबना[२] से एक भैया-भाभी माँ से दीक्षा लेने आये। माँ उदार भाव से सभी को दीक्षा देतीं। उनकी भी दीक्षा हुई। भैया का नाम कालीपद राम था। वे एक स्कूल में शिक्षक थे। भाभी की आयु कम थी। मेरे सामने उनके घूँघट निकालने पर माँ बोलीं – "बहू, तुम राममय से भी शर्माती हो? वह तो मेरी बेटी है जी!" इसके बाद से उन्होंने फिर कभी मेरे सामने पर्दा नहीं किया।

एक दिन मैंने देखा कि भाभी एक साथ ही तीन रोटियाँ बेल रही हैं। अब तक मेरे साथ उनकी खूब घनिष्ठता हो चुकी थी। मैं उनके पास जा बैठा और बोला – "भाभी, मुझे सिखा दीजिए।" उन्होंने दिखा दिया कि कैसे चकले पर पहले थोड़ा आटा छिड़ककर, उसके ऊपर एक लोई रखकर उसे थोड़ा दबाने के बाद, उसके ऊपर फिर आटा छिड़ककर उस पर एक और लोई रखकर थोड़ा दबाकर, उसके ऊपर भी आटा छिड़ककर तीसरी लोई रखकर थोड़ा दबाने के बाद, उसके ऊपर भी आटा छिड़ककर और चकले पर अच्छी तरह आटा डालकर गोल गोल बेलने से एक साथ तीन रोटियाँ तैयार हो जाती हैं। उन्हें हाथ से नहीं घुमाना पड़ता। जब किनारे और बीच के भाग अच्छी तरह पतले हो जायँ, तब दोनों ओर उलट-पलटकर झाड़कर उठा लेना होगा।

शिक्षा तो पूरी हो गयी, लेकिन जब अभ्यास करने चला, तो तीन रोटियों की जगह एक ही हो गई। मैं समझ गया कि कम आटा लगाने के कारण ही ऐसा हुआ है। थोड़ा अधिक आटा लगाकर बेलने पर तीन रोटियाँ बन गयीं। पर रोटियाँ गोल नहीं, बल्कि भारतवर्ष के मानचित्र की भाँति टेढ़ी-मेढ़ी थीं। कई बार तोड़कर बनाने के बाद तीन अच्छी रोटियाँ बन गईं। एक दिन पुरुष-भक्तों की संख्या ज्यादा थी और स्त्री-भक्तों में कोई न था। माँ ने ढेर सारा आटा सानने को दिया। मैंने आटा गूँथकर रख दिया। माँ नलिनी दीदी से बोलीं – "नलिनी, तू रोटियाँ सेंक। मैं और राममय तुम्हें बेलकर देते जायेंगे।" माँ छोटे बेलन से रोटी बेलने लगीं और मैं लकड़ी के बड़े चकले पर मोटे बेलन से एक साथ तीन तीन रोटियाँ बेलने लगा। काम जल्दी जल्दी होने लगा। तभी नलिनी दीदी सहसा बोल पड़ी – "बुआ, राममय की रोटियाँ तुमसे अच्छी फूल रही हैं।" कहने भर की देर थी कि माँ मुँह फूलाकर चकला-बेलन एक ओर खिसकाकर बैठ गयीं और बोलीं – "मैं रोटियाँ बेलते बेलते बूढ़ी हो गयी और राममय दूधपीता बच्चा – वह मुझसे अच्छी रोटियाँ बेल रहा है! मैं अब और नहीं बेलूँगी। वही बेले।" माँ तो चकला-बेलन सरकाकर बैठ गयीं। मैं भी चकला-बेलन छोड़कर उठ गया और माँ से बोला – "यदि आप नहीं बेलेंगी, तो मैं भी नहीं बेलूँगा। मैं भी चला।" माँ ने देखा कि एक साथ दो लोगों के बेलने से काम जल्दी खत्म हो जाएगा और ठाकुर को भोग देने तथा लड़कों को प्रसाद देने में देरी नहीं होगी, इसलिए वे फिर बेलने बैठीं। मैंने नलिनी दीदी को डाँटा – "जब दो लोग तुम्हें एक साथ रोटियाँ बेलकर दे रहे हैं, तो तुमने कैसे जाना कि कौन-सी रोटी बुआ की है और कौन-सी राममय की है? मैं भला कभी माँ से अच्छी रोटियाँ बेल सकता हूँ? तुम बेकार तुलना ही क्यों करती हो?"

इस समय मेरी उम्र ८८ वर्ष है। आज जब मैं यह सब सोचता हूँ कि उस समय माँ ने ऐसा अभिमान क्यों किया? तो इसका कारण खोजने पर शास्त्रों में पाता हूँ कि इनका व्यवहार इसी प्रकार विचित्र होता है। कभी छोटे बच्चे की तरह और कभी ज्ञानी की भाँति। कभी उदार होकर सबको शिक्षा दे रही हैं, सबके प्रश्नों का समाधान कर रही हैं और कभी छोटी बच्ची की तरह व्यवहार कर रही हैं।

माँ का खर्च तो चल जाता, पर अधिक रुपये कभी नहीं रहते। मुझसे बक्सा खोलकर जितना रुपया है, सब निकाल लाने को बोलीं। मैंने कहा – "ग्यारह रुपये हैं।" वे रुपये मुझे देकर बोलीं – "एक रुपये का तेल, एक रुपये का आटा, दो रुपये का घी आदि खरीदकर लाना।" मैंने कहा – "नहीं माँ, आप जैसा बोल रही हैं, सब लिख ले रहा हूँ, पर मैं पाँच सेर, अढ़ाई सेर के हिसाब से खरीदूँगा। इससे दर में लाभ होगा। माँ खूब प्रसन्न होकर बोलीं – "हाँ बेटा, तुम बुद्धिमान लड़के हो, तुम्हारी जैसी इच्छा खरीदकर ले आना। मैं तो इतना हिसाब नहीं कर सकती।" कभी कभी रुपये समाप्त हो जाने पर कहतीं – "अंग्रेजी महीने की आज कौन-सी तारीख है?" मेरे २७ कहने पर पूछतीं – "और कितने दिन बाकी हैं?" मेरे 'चार दिन' कहने पर कहतीं – "तो फिर क्या है? कुछ दिन बाद ही तो इन्दु के रुपये आयेंगे, मास्टर ('म') के भी पाँच रुपये आयेंगे। उस समय अधिक खरीद लेने से ही हो जायेगा।" उन दिनों राँची के इन्दु बाबु १५ रुपये प्रति मास के हिसाब से भेजते, जो ठीक १ या २ तारीख को आ जाता। मास्टर महाशय भी ५ रुपये भेजते थे। उन दिनों वहाँ चावल दो रुपये में १ मन मिलता था।

एक बार हमारे प्रधान अध्यापक प्रबोध बाबू और इन्दु बाबू की जयरामबाटी में मुलाकात हुई। दोनों में बातें खूब जमती। दो-तीन दिन बाद प्रबोध बाबू की कोयालपाड़ा जाकर रहने की इच्छा हुई, क्योंकि अधिक लोगों के रहने पर माँ को कष्ट होता। परन्तु माँ ने कहा – "कोयालपाड़ा क्यों? यहीं रहो न। खाने की ही तो बात है! मुझे कोई कष्ट नहीं होगा। तुम दोनों में अच्छी दोस्ती हुई है। जितने दिन इन्दु है, यहीं रहो।" रसोई बनाने के लिए मैं पतली पतली लकड़ियाँ काट

२. उन दिनों पूर्व बंगाल, अब बंगलादेश में – सं.

रहा था। प्रबोधबाबू आकर – 'मुझे दे' कहकर काटने लगे, थोड़ी लकड़ी चीरते ही माँ स्वयं ही बैठकखाने के पास आकर बोलीं – "नहीं बेटा, तुम्हें नहीं करना होगा। राममय की आदत है, वही करे। तुम लोग बड़े लोग हो, हाथ में दर्द होगा।" मास्टर महाशय ने कहा – "हम लोग gentleman ! dis-qualified ! (भद्रलोग ! अयोग्य) हैं। थोड़ी मेहनत करके माँ की सेवा करने का अधिकार हमको नहीं है।"

एक दिन माँ के बक्से के सारे कपड़े धूप मैं डाल रहा था। एक आसाम-सिल्क का फटा हुआ कपड़ा, अण्डी या मूँगा का रहा होगा, मैं ठीक से नहीं जानता कि क्या कपड़ा था। कपड़े को थोड़ा फटा देखकर मैंने कहा – "माँ, यह कपड़ा फट गया है। फेंक दूँ?" माँ ने कहा – "नहीं बेटा, फेक मत, इसे बड़े प्रेम से 'खुकी' (बिटिया) ने दिया था। मैंने इसे बहुत दिनों तक पहना है।" खुकी अर्थात् भगिनी निवेदिता। भगिनी निवेदिता के प्रति माँ का बड़ा स्नेह था। स्वामीजी ने जिस दिन निवेदिता को माँ का दर्शन करने के लिए भेजा, वे बड़े आशंकित थे कि माँ तो गाँव की महिला हैं, कहीं उसे मलेच्छ जानकर दूर ही न भगा दें। इसके सिवा माँ अंग्रेजी भी नहीं जानतीं और निवेदिता बँगला नहीं जानती। इसलिए स्वामीजी ने दुभाषिये के रूप में अपने शिष्य स्वामी स्वरूपानन्द जी को भेजा था। उन्होंने स्वयं जाकर भगिनी निवेदिता का परिचय करा दिया, जिससे माँ बड़ी प्रसन्न हुईं। माँ ने जब नाम पूछा, तो निवेदिता ने अंग्रेजी में कहा – "मेरा नाम मार्गरेट एलीजाबेथ नोबल है।" माँ ने कहा – "बेटी, मैं इतना बड़ा नाम याद नहीं रख सकूँगी, मैं तुम्हें 'खुकी' कहकर पुकारूँगी।" तब स्वरूपानन्द जी ने उसका अनुवाद करके निवेदिता को बता दिया – "Mother will not be able to utter such a big name, she will call you 'Baby' " (– माँ आपका इतना बड़ा नाम उच्चारण नहीं कर सकेंगी, वे आपको 'बिटिया' कहेंगी।) निवेदिता इस पर बड़ी खुश होकर कहने लगीं – "Yes, yes, I am mother's baby." (– हाँ, हाँ, मैं माँ की बिटिया हूँ।) वे लड़खड़ाते कदमों से स्वामीजी के पास जाकर बोलीं – "माँ ने मेरे सिर पर हाथ रखकर आशीर्वाद दिया है और कहा है कि वे मुझे 'खुकी' कहकर पुकारेंगी। उन्होंने स्वरूपानन्द जी से बंगला सीखा, ताकि वे स्वयं माँ से बातें कर सकें। इसी प्रकार माँ सभी से स्नेह करतीं, सबको दुलार करतीं।

भजन सुनना श्रीमाँ को खूब प्रिय था। एक बार इन्द्रदयाल बाबू (बाद में स्वामी प्रेमेशानन्द), मोक्षदा बाबू आदि कई लोग जयरामबाटी में आये थे। उन लोगों ने बहुत-से भजन गाकर माँ को सुनाये। माँ ने भी बड़े आनन्दपूर्वक भजन सुने। अन्त में माँ को घेरकर कीर्तन भी हुआ। एक बार पूजनीय बिशू-दा (स्वामी तपानन्द जी) ने जयरामबाटी में बहुत-से भजन गाये थे। बड़ी रात तक भजन चलते रहे और माँ बहुत प्रसन्न हुई थीं। गाँव के भी बहुत-से लोग आये थे।

एक स्त्री-भक्त द्वारा माँ की सेवा करने की बात उठने पर माँ ने कहा – "नहीं बेटा ! यहाँ ठाकुर की सेवा होती है। ऐसा नहीं चलेगा। मैं सत् की भी माँ हूँ, असत् की भी माँ हूँ। सती की भी माँ हूँ, असती की भी माँ हूँ। लेकिन ठाकुर की सेवा नहीं चलेगी। हाड़शुद्ध स्त्रियाँ कितनी हैं? उँगलियों पर गिनी जा सकती हैं।"

जिस दिन जयरामबाटी में मैंने पूज्यपाद शरत् महाराज का पहली बार दर्शन किया, उस दिन दूर से उनका विशाल शरीर देखकर मुझे उनके पास जाते भय लगा। इसीलिए रास्ते में उन्हें देखकर मैं किनारा काटकर माँ के पास चला गया। माँ को प्रणाम करते ही वे बड़े आनन्दपूर्वक बोलीं – "राममय, शरत् आया है, तूने देखा?" मैंने कहा – "हाँ माँ, दूर से देखा है। माँ बोलीं –"पास नहीं गये, शरत् को प्रणाम नहीं किया?" मैंने कहा – "नहीं माँ, भय लगता है।" माँ बोलीं – "बुद्धू लड़के ! शरत् से कैसा भय? देखना, वह तुझे कितना प्रेम देगा, जा।" माँ के कमरे के भीतर से जाकर मैंने पूजनीय शरत् महाराज को प्रणाम किया। उन्होंने मेरा नाम,

घर कहाँ है, जयरामबाटी क्यों आया हूँ, कोई सगा या मित्र है या नहीं, आदि सब कुछ पूछा। मुझे ऐसा लगा कि मुझे छोटा समझकर "मैं जो माँ के पास ही आता हूँ" – इसका मतलब नहीं समझ सके हैं, अत: मैंने सीधा उत्तर दिया – "मैं हर शनिवार को माँ के पास आता हूँ और सोमवार को स्कूल चला जाता हूँ।" तब उन्होंने समझा। उनकी बातें इतनी स्नेहपूर्ण थीं कि मुझे भी बड़ा आनन्द हुआ।

कुछ ही मिनट बाद माँ ने मेरा नाम लेकर पुकारा और मुझे कुछ खाने को दिया। तब पूजनीय शरत् महाराज को समझने में देर नहीं लगी कि माँ मुझे बहुत स्नेह करती हैं। मैं घर के भीतर सभी के साथ खूब घनिष्ठ भाव से परिचित हूँ, ऐसा जानकर शरत् महाराज मुझसे बोले – "देख, माँ किस समय क्या करती हैं, देखना। जब उनके हाथ में कोई काम न रहे, तब मुझे आकर बताना। उस समय मैं तुझे पूछ आने को कहूँगा कि मैं उन्हें प्रणाम करने आऊँ या नहीं। देख, जैसा कहा है वैसा ही करना। अपनी बुद्धि मत लगाना।" समझ गया कि काम के समय मैं कहीं माँ से प्रणाम की बात न पूछ बैठूँ, इसीलिए उन्होंने सावधान किया है। मैं ठीक उनके आदेशानुसार जाकर कहता – "महाराज, माँ सब्जियाँ काटकर अब अपने कमरे में बैठी हैं।" सुनते ही महाराज कहते – "माँ के पास जाकर हाथ जोड़कर पूछ आ कि मैं इस समय प्रणाम करने आऊँ या नहीं?" माँ से पूछते ही वे कहतीं – "हाँ बेटा, शरत् से आने को कह दे।" मैं महाराज के पीछे-पीछे जाकर बरामदे में खड़े होकर सब देखता। माँ के कमरे का द्वार छोटा और महाराज का शरीर बड़ा स्थूल था। वे सीधे नहीं घुस पाते, अत: तिरछे होकर घुसते। माँ अपनी खाट पर बैठकर दोनों पाँव जमीन पर रखतीं। महाराज घुटने के बल बैठकर माँ के श्रीचरणों में सिर रखकर प्रणाम करते। तब माँ भी दोनों हाथ उनके सिर पर रखकर आशीर्वाद देतीं। तत्पश्चात् महाराज पूछते – "माँ, आप ठीक तो हैं न?" माँ उत्तर देतीं – "हाँ बेटा, मैं ठीक हूँ। तुम ठीक हो न?" वे कहते – "हाँ माँ, मैं ठीक हूँ।" हर रोज मैं यही एक प्रश्न और यही एक उत्तर सुनता। प्रणाम के बाद महाराज धीरे धीरे उठकर माँ की ओर पीठ न कर उल्टा चलते हुए कमरे से बाहर आकर सीधा चलकर बैठकखाने के कमरे में आ जाते। माँ घूँघट काढ़ती थीं, इसलिए कहते – "मैं मानो उनका ससुर हूँ! मेरे सामने भी इतना घूँघट!"

आजकल अनेक भक्त कितना कुछ विचित्र बातें कहते हैं। सुनकर हँसी आती है। कोई कोई मुझसे पूछते हैं – "माँ क्या गले में सोने का हार और सिन्दूर लगाती थीं?" मैं उनसे कहता हूँ – "ये सब बेकार की बातें हैं। माँ केवल हाथ में सोने का कड़ा पहनती थीं। और गले में सोने के पतले तार में गुँथी हुई रुद्राक्ष-माला पहनती थीं।" केशवानन्द स्वामी के पूर्वाश्रम की धर्मपत्नी माँ के शरीर में तेल मल देतीं। मेरे पूछने पर उन्होंने बताया था – "ये सब बेकार की बातें हैं।" उस समय मठ के अध्यक्ष पूजनीय स्वामी माधवानन्द जी ने कहा था – "माँ के दो-चार शिष्य-शिष्याओं की बातें थोड़ी सावधानी से लेनी होगी। वे लोग कुछ विचित्र बातें कहेंगे ही।" मैं माँ के सिर से पके हुए बाल निकाल दिया करता, लेकिन मैंने कभी भी सिन्दूर नहीं देखा।

पोथीकार श्रद्धेय अक्षय मास्टर महाशय कहते – "देखो भाई! ठाकुर मेरे गुरु और सर्वस्व हैं। लेकिन तो भी माँ का स्नेह ऐसा है कि यदि ठाकुर का स्मरण दिन में दो सौ बार होता है, तो माँ की याद हजार बार आती है। ठाकुर मानो प्रचण्ड सूर्य हैं और माँ मानो स्निग्ध चन्द्रमा हैं। लेकिन भाई, ऐसी स्नेहमयी माँ होकर भी वे प्रारब्ध नहीं काटतीं। उसका इस शरीर पर ही भोग हो जायेगा।" तत्पश्चात् उन्होंने एक घटना सुनायी – "एक दिन मैं और उमेश डॉक्टर माँ का दर्शन करने गये। बातचीत के प्रसंग में माँ ने ऐसे सहज-सरल भाव से अपनी उँगली की पोर दिखाकर कहा – "बुढ़ापे में अक्षय को थोड़ा कष्ट होगा।" उस समय तो मैं कुछ समझ नहीं पाया। बाद में मैंने घर में बैठकर जितना ही सोचा, उतना ही प्राण छटपटाने लगे। दो-तीन दिनों बाद उमेश डॉक्टर माँ का दर्शन करने गये। मैंने उनसे कहला भेजा – जाकर माँ से कहना कि मुझे आखिरी समय में कष्ट होगा – सुनकर दुश्चिन्ता हो रही है। माँ आशीर्वाद दें कि यह कष्ट कट जाये। पर वह सुनकर भी माँ ने कहा था – 'थोड़ा-सा कष्ट होगा।' लेकिन 'नहीं होगा' – ऐसा तो उन्होंने नहीं कहा। और वह थोड़ा-सा कष्ट कैसा है, यह तो समझ ही पा रहे हो।" अक्षय मास्टर को जीवन के अन्तिम दिनो में बहुत कष्ट भोगना पड़ा था। लेकिन दिन-रात वे माँ-ठाकुर की बातों के सिवा अन्य कोई बात नहीं करते थे। मुझे बहुत-सी बातें बताकर कहते – "इस समय केवल सुनकर ही रखो, बाद में जब माँ कृपा करेंगी, तब एक दिन तुम्हें सारी उपलब्धियाँ होंगी। उस समय याद आयेगा – 'हाँ, वृद्ध ने तो यह सब ठीक-ठीक ही तो कहा था।' ❑❑❑

कर्मवाद और पुनर्जन्म (२)

स्वामी आत्मानन्द

हिन्दू दर्शन विकास का यह जो कारण बताता है, वह विकासवादी के कारणों की अपेक्षा अधिक वैज्ञानिक है। हम ऊपर कह चुके हैं कि हिन्दू की दृष्टि में विकास का कारण है – 'अमीबा' में निहित पूर्णता का अपने आप को प्रकट करने का प्रयास। महर्षि पतंजलि अपने 'योगसूत्र' में कहते हैं – **जात्यन्तरपरिणामः प्रकृत्यापूरात् (४/२)** – 'एक योनि से दूसरी योनि में बदल जाना रूपी (यह) जात्यन्तर-परिणाम प्रकृति की आपूरण-क्रिया से होता है।' प्रकृति की आपूरण-क्रिया का अर्थ है प्रकृति का स्वभाव। जैसे, मेड़ के कारण पानी बँधा हुआ है। पानी को बहाने के लिये हमें और कुछ नहीं करना पड़ता, केवल उसमें बाधक मेड़ को तोड़ भर देना पड़ता है और पानी अपने स्वभाव से बह जाता है। इसी प्रकार विकास-क्रम में बहने का स्वभाव है, उस पूर्णता में अपने आपको अभिव्यक्त करने का स्वभाव है। इसके लिये केवल उसकी अभिव्यक्ति के रोड़ों को दूर भर कर देना होता है। इसी को समझाते हुये पतंजलि अगले सूत्र (४/३) में कहते हैं – **निमित्तमप्रयोजकं प्रकृतीनां वरणभेदस्तु ततः क्षेत्रिकवत्** – 'सत् और असत् कर्म प्रकृति के परिणाम (परिवर्तन) के प्रत्यक्ष कारण नहीं हैं, वरन् वे उसकी बाधाओं को दूर कर देनेवाले निमित्त मात्र हैं – जैसे, किसान जब पानी के बहने में रुकावट डालनेवाली मेड़ को तोड़ देता है, तो पानी अपने स्वभाव से ही बह जाता है।' यह पुनर्जन्म की ही व्याख्या है। जीवन-प्रवाह को यही युक्तियुक्त आधार प्रदान करता है। पुनर्जन्म की स्थापना बिना जीवन की कोई सार्थकता नहीं रह जाती। यदि मनुष्य को केवल यही एक जन्म मिला हो, तो उसमें और पशु में भेद करने का कोई प्रभावी कारण नहीं रह जाता।

उपर्युक्त सूत्र की व्याख्या करते हुये स्वामी विवेकानन्द कहते हैं – "प्राचीन योगियों का विकासवाद आज आधुनिक विज्ञान के शोध से अपेक्षाकृत अच्छी तरह समझ में आ सकेगा। फिर भी योगियों की व्याख्या आधुनिक व्याख्या से कहीं श्रेष्ठ है। आधुनिक मत कहता है, विकास के दो कारण हैं – यौन-निर्वाचन (Sexual selection) और बलिष्ठ की अतिजीविता (Survival of the fitest) पर ये दो कारण पर्याप्त नहीं मालूम होते। मान लो मानव-ज्ञान इतना उन्नत हो गया कि शरीर-धारण तथा पति या पत्नी की प्राप्ति-सम्बन्धी प्रतियोगिता उठ गयी। तब तो आधुनिक विज्ञानवेत्ताओं के मतानुसार मानवीय उन्नति-प्रवाह रुद्ध हो जायेगा और जाति की मृत्यु हो जायेगी। फिर, इस मत के फलस्वरूप तो प्रत्येक अत्याचारी व्यक्ति अपने विवेक से छुटकारा पाने की एक युक्ति पा लेता है। ऐसे मनुष्यों की कमी नहीं, जो दार्शनिक नामधारी बनकर जितने भी दुष्ट और अनुपयुक्त मनुष्य हैं (मानो ये ही उपयुक्तता-अनुपयुक्तता के एकमात्र विचारक हैं), उन सबको मार डालकर मनुष्य जाति की रक्षा करना चाहते हैं ! किन्तु प्राचीन विकासवादी महापुरुष पतंजलि कहते हैं कि परिणाम या विकास का वास्तविक रहस्य है – प्रत्येक व्यक्ति में जो पूर्णता पहले से ही निहित है, उसी की अभिव्यक्ति या विकास मात्र। वे कहते हैं कि इस पूर्णता की अभिव्यक्ति में बाधा हो रही है। हमारे अन्दर यह पूर्णतारूप अनन्त ज्वार अपने को प्रकाशित करने के लिये संघर्ष कर रहा है। ये संघर्ष और होड़ केवल हमारे अज्ञान के फल हैं। ये इसलिये होते हैं कि हम यह नहीं जानते कि यह दरवाजा कैसे खोला जाय और पानी भीतर कैसे लाया जाय। हमारे पीछे जो अनन्त ज्वार है, वह अपने को प्रकाशित करेगा ही। वही समस्त अभिव्यक्ति का कारण है। केवल जीवन-धारण या इन्द्रिय-सुखों को चरितार्थ करने की चेष्टा इस अभिव्यक्ति का कारण नहीं है। ये सब संघर्ष तो वास्तव में क्षणिक हैं, अनावश्यक हैं, बाह्य व्यापार मात्र हैं। ये सब अज्ञान से पैदा हुये हैं। सारी होड़ बन्द हो जाने पर भी, जब तक हममें से प्रत्येक व्यक्ति पूर्ण नहीं हो जाता, तब तक हमारे भीतर निहित यह पूर्ण-स्वभाव हमें क्रमशः उन्नति की ओर अग्रसर कराता रहेगा। अतः यह विश्वास करने का कोई कारण नहीं कि होड़ या प्रतियोगिता उन्नति के लिये आवश्यक है। पशु के भीतर मनुष्य गूढ़ भाव से निहित है; ज्योंही किवाड़ खोल दिया जाता है, अर्थात् ज्योंही बाधा हट जाती है, त्योंही वह मनुष्य प्रकाशित हो जाता है। इसी प्रकार, मनुष्य के भीतर भी देवता अव्यक्त भाव से विद्यमान है, केवल अज्ञान का आवरण उसे प्रकाशित नहीं होने देता। जब ज्ञान इस आवरण को चीर डालता है, तब भीतर का वह देवता प्रकाशित हो जाता है।" (विवेकानन्द साहित्य, खण्ड १, पृष्ठ-२०५-७)

भले ही डार्विन के विकासवाद ने यह स्वीकार नहीं किया कि विकास-क्रम का कोई लक्ष्य है, पर आज का जीवशास्त्री न केवल इस जीवन-प्रवाह का एक लक्ष्य मानने को बाध्य हो रहा है, अपितु उसका लक्ष्य सम्बन्धी दृष्टिकोण पूर्णता की हिन्दू धारणाओं के अत्यन्त समीप आ गया है। वह डार्विन द्वारा प्रतिपादित प्रतिद्वन्दिता और होड़ को विकास के कारण में गौण मानता है और Fulfilment (पूर्णता) की प्रेरणा को प्रमुख स्थान दे रहा है। आज के सर्वश्रेष्ठ जीवशास्त्री जूलियन

हक्सले 'Evolution after Darwin' नामक ग्रन्थ के पहले खण्ड (पृष्ठ २१) में प्रकाशित अपने 'The Emergence of Darwinism' नामक लेख में कहते हैं – "In the light of our presnt knowledge, man's most comprehensive aim is seen not as mere survival, not as numerical increase, not as increased complexity of organization or increased control over his environment, but a as greater Fulfilment - the fuller realization of more possibilities by the human species collectively and more of its component members individually," – "आज के ज्ञान के आलोक में, मनुष्य का सबसे व्यापक लक्ष्य न तो केवल जीवित बचे रहने में, न केवल संख्या-वृद्धि में, न समुदाय की बढ़ी हुई जटिलता में और न अपने वातावरण पर अधिक नियमन प्राप्त करने की क्षमता में दृष्टिगोचर होता है, बल्कि वह तो अधिकाधिक पूर्णता के रूप में परिलक्षित होता है, जिससे कि मानव-जाति समष्टिगत रूप से, और उससे भी अधिक, उसके विभिन्न घटक व्यक्तिगत रूप से अपनी अधिकतर सम्भावनाओं का अच्छी तरह अनुभव कर लें।"

डार्विन का विकासवाद विकास की प्रक्रिया को पूरी तरह यांत्रिक (Mechanical) और जैविक (biological) मानता है, जबकि हिन्दू दर्शन इसे मन के विकास और आत्मा की अभिव्यक्ति के रूप में ग्रहण करता है। अत: स्वाभाविक ही यह जानकर हमें सुखद आश्चर्य होता है कि आज का जीवशास्त्री अपनी गवेषणा के फलस्वरूप वही बात कह रहा है, जो भारत के ऋषियों को सहस्रों वर्ष पूर्व ज्ञात हो चुकी थी। जूलियन हक्सले उपर्युक्त ग्रन्थ के तीसरे खण्ड (पृष्ठ २५१) में प्रकाशित अपने 'The Evolutionary Vision' नामक लेख में कहते हैं – "Man's evolution is not biological but psycho-social" – "मनुष्य का क्रम-विकास जैविक नहीं, बल्कि मनो-सामाजिक है।"

हम ऊपर कह चुके हैं कि हिन्दू दर्शन के मतानुसार, जीवन-प्रवाह में मनुष्य के माध्यम से अभिव्यक्ति होनेवाली पूर्णता उस 'अमीबा' – जीवाणु-कोष में संकुचित है। चेतना (Consciousness) भी उसी 'अमीबा' में क्रम-संकुचित है। यह निहित पूर्णता अपने आप को अभिव्यक्त करने का प्रयास कर रही है और इस प्रयास में जीवन-प्रवाह निम्न से उच्चतर योनियों में से होता हुआ गुजरता है। एक स्तर पर आकर यह चेतना भी अभिव्यक्त हो जाती है। उस 'अमीबा' के लिये इस विकासक्रम का अन्त तब होता है, जब मनुष्य-योनि के माध्यम से उसमें निहित पूर्णता पूरी तरह से अभिव्यक्त हो जाती है। मानो तब यह विकासक्रम अपना वृत्तपथ पूरा कर लेता है, जो 'अमीबा' से शुरु हुआ था। तात्पर्य यह कि यह विकासक्रम एक वृत्त में हुआ, जिसका प्रारम्भिक बिन्दु है 'अमीबा' और अन्तिम बिन्दु है 'पूर्ण मानव'। यह 'पूर्ण मानव' ही विकास-क्रम का लक्ष्य है।

यहाँ पर कुछ प्रश्न खड़े होते हैं। पहला तो यह कि यदि विकास-क्रम कि गति को वर्तुलाकार माना जाय, तो एक दोष यह आता है कि जहाँ से जीवन-प्रवाह शुरू हुआ था, घूम-फिरकर फिर से वहीं आ गया। अतएव करोड़ों वर्ष तक बहने का कोई मतलब ही नहीं हुआ। इसका उत्तर यों दिया जाता है कि भले ही 'वर्तुलाकार गति' से सामान्य तौर पर यह भाव उठता हो कि वृत्त जहाँ से शुरू होता है, वहीं आकर समाप्त हो जाता है, पर गणित की भाषा में वृत्त के प्रारम्भिक और अन्तिम बिन्दु एक नहीं, दो हैं। इन दोनों को Identical points (अभिन्न बिन्दु) न कहकर Contiguous points (संस्पर्शी बिन्दु) कहा जाता है। और इन दोनों बिन्दुओं में वैसा ही अन्तर है, जैसा प्रकाश के अभाव में होने वाले अन्धकार एवं चौंधियाती रोशनी से उत्पन्न देखने की अक्षमता में। आँखें न तो अन्धकार में देख पाती हैं, न चौंधियाती रोशनी में। 'अमीबा' मानो वह अन्धकार है, जो अज्ञान की निपटता से जन्म लेता है। 'पूर्ण मानव' वह बिन्दु है, जो ज्ञान की उत्कटता से प्रकट होता है। 'अमीबा' यदि असत्, तमस् या मृत्यु का बिन्दु है, तो 'पूर्ण मानव' सत्, ज्योति अथवा अमृत का। तभी तो ऋषि प्रार्थना करते हुये कहते हैं – **'असतो मा सद्गमय', 'तमसो मा ज्योतिर्गमय', 'मृत्योर्मा अमृतं गमय'** – 'असत् से मुझे सत् की ओर ले चलो', 'अन्धकार से मुझे प्रकाश की ओर ले चलो', 'मृत्यु से मुझे अमृत की ओर ले चलो'।

दूसरा प्रश्न यह खड़ा होता है कि जब विकास-क्रम सबको आगे-ही-आगे ठेल रहा है, तो 'पूर्ण मानव' के बिन्दु तक वह हमें ठेलता ही रहेगा। अर्थात् उस स्थिति तक पहुँचने से पूर्व उसका ठेलना बन्द नहीं होगा। ऐसी स्थिति में साधना का क्या तात्पर्य है? हम साधना क्यों करें? जब यह विकास-प्रवाह अपनी स्वाभाविक गति से हमें लक्ष्य तक पहुँचाये बिना रुकेगा नहीं, तो साधना किस बात के लिये की जाय? इस प्रश्न का ऐसा भी रूप हो सकता है कि क्या सब कुछ विकास-प्रवाह से बँधा नहीं है? क्या हम विकास-प्रक्रिया के हाथों की कठपुतली नही हैं? क्या हमे किसी प्रकार की स्वतंत्रता प्राप्त है, जिससे कि हम कर्म कर सकें? क्या पुनर्जन्म में मनुष्य के अपने कर्म कारणीभूत हैं, या कि वह विकास के अपरिवर्तनकारी नियमों द्वारा बँधा हुआ है?

इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि मनुष्य-योनि में प्रविष्ट होने से पूर्व तक विकास-क्रम यांत्रिक और जैविक है, पर मनुष्य-योनि में आते ही वह प्रमुखत: मानसिक हो जाता है। इसका अर्थ यह हुआ कि डार्विन ने विकास-क्रम जो यांत्रिक और जैविक माना था, वह मनुष्येतर योनियो पर तो लागू होता है, पर मनुष्य-योनि में उसका स्वरूप बदल जाता

है। यहाँ आकर विकास-क्रम मनुष्य को एक ऐसा घेरा प्रदान करता है, जिसके भीतर मनुष्य स्वतंत्र है और जिसका सही-सही उपयोग करने पर वह विकास को समुचित दिशा प्रदान कर सकता है तथा अपने भीतर उसकी गति को तेज भी कर सकता है। साधना का यही तात्पर्य है। यही 'कर्मवाद' है। उदाहरणार्थ, हम प्रवाह में बहनेवाले एक तिनके को ले लें। यह तिनका एक-न-एक दिन सागर में जाकर मिलेगा ही, यह सत्य है, पर यदि उसे अपने भरोसे छोड़ दिया जाय, तो न जाने कितना समय उसे समुद्र तक पहुँचने में लग जाय। कहीं जाकर अटक गया, तो वहीं कई दिनों तक पड़ा रह गया। फिर हवा के झोंके से वहाँ से निकला, तो और कहीं जाकर अटक गया। इस प्रकार अटकते और बहते उसे समुद्र तक जाने में न जाने कितने दिन लग जायँ? अब कल्पना करें कि कोई उस तिनके के अटकाव को लगातार दूर करता जाता है, तो ऐसी दशा में वह तिनका अपेक्षाकृत अत्यल्प समय में सागर में जा मिलेगा। बस, कर्म या साधना अटकाव को दूर करने की प्रक्रिया है। सामान्य रूप से विकास का प्रवाह अपनी स्वाभाविक गति से हमें 'पूर्ण मानव' के बिन्दु तक ले जायेगा सही, पर न जाने रास्ते में कितने अटकाव हैं, और हम अटकते-अटकते न जाने कब वहाँ तक पहुँचेंगे? साधना हमारी इन बाधाओं को दूर करती है और विकास को दिशा एवं गति प्रदान करती है। आज का जीव-विज्ञान प्रकारान्तर से इस बात की पुष्टि करता है। जूलियन हक्सले अपने उपर्युक्त लेख (पृष्ठ २५२) में मनुष्य के सम्बन्ध में कहते हैं –

"It is only through possessing a mind that he has become the dominant portion of this planet and the agent responsible for its future evolution; and it will be only by the right use of that mind that he will be able to exercise that responsibility rightly. He could all too readily be a failure in the job; he will succeed only if he faces it conciously and if he uses all this mental resources - of knowledge and reason, of imagination, sensitivity, and moral effort." – "मनुष्य मन से युक्त है और इसलिये वह इस पृथ्वी का प्रभावी अंग हो गया है तथा उसके भावी विकास-क्रम के लिये उत्तरदायी यंत्र बन गया है; वह अपने उस मन के सम्यक् उपयोग के द्वारा ही अपने उस उत्तरदायित्व को सही ढंग से निभाने में समर्थ होगा। वह इस कार्य में एकदम असफल भी सिद्ध हो सकता है; वह सफल तभी होगा, जब वह सजग होकर उसका सामना करेगा और अपने ज्ञान और विवेक, कल्पनाशक्ति और संवेदनशीलता तथा नैतिक प्रयास रूप समस्त मानसिक स्रोतों का उपयोग करेगा।"

मन का सम्यक् उपयोग ही साधना है। अपने ज्ञान और विवेक, कल्पना-शक्ति व संवेदनशीलता तथा नैतिक प्रयास रूप मानसिक स्रोतों का उपयोग ही साधना है। जूलियन हक्सले अनजाने ही साधना की वैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत कर देते हैं। साधना अथवा कर्मवाद की इससे सुन्दर और सटीक परिभाषा और क्या हो सकती है? इसका अर्थ मानो यह हुआ कि सामान्य गति से चलने पर विकास-प्रवाह जितनी दूरी २०० वर्षों में तय करता, साधना के द्वारा, मन के सम्यक् उपयोग से वह उतनी दूरी २० वर्षों में ही तय कर ले सकता है।

इस पर कोई कह सकता है कि लक्ष्य तक पहुँचने की जल्दी क्यों की जाय? क्यों न प्रवाह-पतित तिनके की भाँति रहा जाय? इसका उत्तर यह है कि मनुष्य के स्वभाव में ही यह शीघ्रता की प्रवृत्ति रूढ़ है। उसकी यह प्रवृत्ति उसकी हर क्रिया में झलकती है। वह अपने प्राणों को खतरे में डालकर सड़क को पार करेगा; रेलगाड़ी या बस या ट्राम में वह सबसे पहले चढ़ने और उतरने की कोशिश करेगा। सबसे आगे जाने का भाव उसकी हर क्रिया में परिलक्षित होता है। यह तर्क लक्ष्य की ओर उसकी गति पर भी लागू होता है।

पुरखों की थाती

पिबन्ति नद्यः स्वयमेव नाम्भः
स्वयं न खादन्ति फलानि वृक्षाः।
नादन्ति सस्यं खलु वारिवाहाः
परोपकाराय सतां विभूतयः ।।

– जैसे नदियाँ अपने जल को स्वयं नहीं पीतीं, वृक्षगण अपने फलों को स्वयं नहीं खाते, पानी बरसानेवाले बादल अपने पैदा किये हुए अन्न को स्वयं नहीं खाते, वैसे ही महापुरुषों की विभूतियाँ (गुण तथा सम्पत्तियाँ) उनके अपने भोग हेतु नहीं, परोपकार के लिए होती हैं।

परोपकार-निरता ये स्वार्थ-सुख-निःस्पृहाः।
जगद्धिताय जनिता साधवस्त्वीदृशा भुवि ।।

– जो लोग परोपकार में तल्लीन रहते हैं, जिनमें अपने स्वार्थ तथा सुख की इच्छा नहीं होती और जिन्होंने जगत् के कल्याणार्थ जन्म लिया है, इस पृथ्वी पर ऐसे लोग ही साधु कहलाते हैं।

परोपकार-शून्यस्य धिङ्मनुष्यस्य जीवितम्।
यावन्तः पशवस्तेषां चर्माप्युपकरिष्यति ।।

– उस मनुष्य के जीवन को धिक्कार है, जो परोपकार से रहित है, उसकी अपेक्षा तो पशु ही अच्छे हैं, (क्योंकि) उनका चमड़ा तक परोपकार में लगता है।

विकास-क्रम के सन्दर्भ में एक प्रश्न और किया जा सकता है। अच्छा, इस विश्व में तो कोटि-कोटि जीव दिखाई देते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि 'अमीबा' भी कोटि-कोटि होंगे और रहे होंगे। तो यह बताओ कि ये कोटि-कोटि 'अमीबा' कहाँ से और कैसे पैदा हुये और यह ब्रह्म, यह पूर्णता उन 'अमीबों' में कब, कैसे और क्यों समा गयी? इस प्रश्न का उत्तर देते हुये हिन्दू दर्शन कहता है – "मुझे नहीं मालूम !"

पुनर्जन्म के सैद्धान्तिक पक्ष को, इस प्रकार वैज्ञानिक दृष्टि से पुष्ट कर अब हम उसके व्यावहारिक पक्ष पर थोड़ा चिन्तन करें। व्यावहारिक पक्ष कर्म का पक्ष है। कर्म और पुनर्जन्म का एक-दूसरे के साथ अविच्छेद्य सम्बन्ध है। हमारा वर्तमान जन्म हमारे पिछले जन्म के कर्मों के द्वारा नियंत्रित होता है तथा हमारा आगामी जन्म वर्तमान जन्म के कर्मों के द्वारा नियंत्रित होगा। कर्म के सिद्धान्त के बिना पुनर्जन्म का सिद्धान्त नहीं टिक पाता। फिर, हम उसके बिना जगत् के वैषम्य की भी व्याख्या नहीं कर पाते। मनुष्येतर योनियों की विषमता तो जीवन-प्रवाह में ही रूढ़ है, पर मनुष्य-मनुष्य का भेद केवल जीवन-प्रवाह पर नहीं छोड़ा जा सकता, क्योंकि मनुष्येतर योनियों में सहज-वृत्ति (Instinct) प्रधान है, जबकि मनुष्य में बुद्धि-वृत्ति (Intellect) की प्रधानता होती है। सहज-वृत्ति से सम्पन्न क्रियाओं (Instinctive activities) से कोई संस्कार पैदा नहीं होता, पर बुद्धि-वृत्ति से युक्त क्रियाओं का मन पर संस्कार पड़ता है। और मनुष्य तो बुद्धि-वृत्ति से युक्त क्रियाएँ ही करता है। केवल पागल ही इसके अपवाद हैं। हम जो भी कर्म करते हैं, वह सूक्ष्म रूप धारण कर अन्त:करण में संस्कार के रूप में बना रहता है। कोई भी कर्म नष्ट नहीं होता। सामान्य-से-सामान्य कर्म भी संस्कार के रूप में अवशिष्ट रह जाता है। यह कर्म-संस्कार कर्म के बाहरी रूप के अनुसार नहीं बनता, वह तो कर्म के पीछे की भावना के अनुसार बना करता है। उदाहरणार्थ, शल्य-चिकित्सक (सर्जन) की मेज पर छुरी पड़ी है। एक डाकू अचानक घुस आता है और उस छुरी से एक का हाथ काट लेता है तथा उसके पास जो भी पैसा है, उसे लूट लेता है। कुछ समय बाद वहाँ एक मरीज आता है, जिसके हाथ में विषाक्त व्रण हो गया है और उसके प्राण बचाने के लिये सर्जन उसी छुरी से उसका हाथ काट देता है। अब ऊपर की दृष्टि से देखें, तो ये दोनों कर्म समान दिखते हैं। दोनों ही दशाओं में एक ही छुरी के द्वारा हाथ काट दिया जाता है। तो क्या दोनों का फल भी एक ही होगा? नहीं। पहले व्यक्ति को डाकू का दण्ड मिलेगा, जबकि सर्जन को पुरस्कार। यह जो फल का भेद हुआ, उसक कारण है कर्मों के पीछे की भावना का भेद। डाकू के कर्म के पीछे व्यक्ति के प्राण लेने की भावना है, जबकि सर्जन के कर्म में व्यक्ति को बचाने की। पहला दुख देना चाहता है और दूसरा सुख। बस, कर्म के पीछे की भावना ही कर्म-संस्कार को जन्म दिया करती है। कोई व्यक्ति अपने को चालाक समझकर दुनिया के सभी लोगों को छल सकता है, पर स्वयं को नहीं छल सकता। ऊपर से वह कोई ऐसी क्रिया कर सकता है, जो नि:स्वार्थ दिखती हो, पर उसका अन्त:करण ठीक जानता है कि क्रिया के पीछे कौन-सी भावना सक्रिय है। हमारा यह मनोयंत्र इतना sensitive (संवेदनशील) और Precise (खरा) है कि तनिक-सा स्पन्दन भी उसमें Recorded (अंकित) हो जाता है। हम भले ही कभी-कभी अपने को भी छलने की कोशिश करें, पर वास्तव में हम कभी भी स्वयं को छल नहीं पायेंगे। भले ही हम अपने मन को भुलावा देकर कोई अनुचित कर्म कर लें, पर इस कर्म का जो संस्कार-शेष होगा, उसमें हमारी यथार्थ भावना का ही अंकन होगा, दिखाऊ भावना का नहीं।

जैसे कर्मों के संस्कार बना करते हैं, वैसे ही मन में उठने वाले विचारों के भी संस्कार बनते हैं। अन्त:करण में जहाँ पर ये सारे संस्कार जाकर इकट्ठा होते हैं, उसे 'चित्त' कहा जाता है। चित्त में जैसे इस जन्म में बनने वाले संस्कार जाकर जमा हो जाते हैं, वैसे ही जन्म-जन्मान्तर में बने संस्कार भी संचित रहते हैं। कल्पना करें कि एक व्यक्ति आज मृत्यु के मुख में चला गया। मरने से ठीक पूर्व उसके चित्त में स्थित संस्कारों का एक प्रबल भाग मानो चित्तरूपी कोष से अलग हो जाता है। यह अलग हुआ संस्कार-समूह ही 'प्रारब्ध' के नाम से परिचित होता है, जो मनुष्य के अगले जन्म का कारण बनता है। चित्त में बाकी जो संस्कार-समूह बचा हुआ है, उसे 'संचित' कहते हैं। 'प्रारब्ध' के द्वारा नया जन्म प्राप्त होने पर उस नये जन्म में जो संस्कार बनते हैं, उनको 'क्रियमाण' कहते हैं। इस प्रकार कर्म-संस्कारों की ये तीन श्रेणियाँ हुईं – संचित, प्रारब्ध और क्रियमाण। प्रारब्ध से नया शरीर मिलता है और प्रारब्ध के जीर्ण हो जाने पर शरीर की मृत्यु हो जाती है, फिर उस समय शरीर चाहें शैशवावस्था में रहे, किशोरावस्था में या तरुणावस्था में। हम यह नहीं जान पाते कि प्रारब्ध कब जीर्ण होगा, इसलिये किसी की मृत्यु कच्ची उम्र में होने पर हम कह दिया करते हैं – 'उसकी अकाल मौत हो गई।' पर तत्त्व की दृष्टि से देखें, तो 'अकाल मृत्यु' नाम की कोई वस्तु नहीं है। जो भी मृत्यु होती है, वह काल में ही होती है। हमें प्रारब्ध का पता नहीं चलता, अत: काल को अकाल कह देते हैं। पाँच वर्ष का कोई स्वस्थ बालक अचानक चल बसा, तो हम उसकी मृत्यु को 'अकाल' का विशेषण लगायेंगे। एक चिकित्सक जब उसके रोग को जानने में समर्थ न होगा, तो कहेगा कि हृदयगति के रुकने से बालक की मृत्यु हुई। पर एक ज्ञानी देखेगा कि उसके प्रारब्ध के समाप्त होने के कारण वह चल बसा। ❖ **(क्रमश:)** ❖

स्वामी विवेकानन्द के विचारों में हिन्दुत्ववाद

नवीन दीक्षित, इन्दौर (म.प्र.)

अब इस इक्कीसवीं शताब्दी में पुनर्जागरण युग के महापुरुषों, स्वातंत्र्य-संग्राम के राष्ट्रवीरों और स्वातंत्र्येतर काल के जन-नेताओं व विचारकों के व्यक्तित्व, विचार तथा प्रभाव का अपेक्षाकृत अधिक यथार्थ विश्लेषण किया जा सकता है। इन युगान्तकारी घटनाओं को घटित हुए अब आधी या पूरी एक सदी बीत चुकी है। उपर्युक्त **महापुरुषों के नक्षत्र-समूह में स्वामी विवेकानन्द ही एकमात्र देदीप्यमान सूर्य हैं।** उनके व्यक्तित्व में भारतीय संस्कृति की सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है। स्वामीजी के व्यक्तित्व की निर्माण-राशि का आदि और अन्त सब कुछ भारतीय संस्कृति ही है। इसीलिए गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने नोबल पुरस्कार से सम्मानित फ्रांसीसी विद्वान् तथा साहित्यकार मोशियो रोमाँ रोलाँ को लिखा था, "यदि आप भारत को समझना चाहते हैं, तो स्वामी विवेकानन्द का अध्ययन कीजिए। उनमें सब कुछ सकारात्मक और भावात्मक है, नकारात्मक और अभावात्मक कुछ भी नहीं।"

गुरुदेव रवीन्द्रनाथ के इस मार्मिक उद्गार में स्वामीजी की भारत-सम्बन्धी अन्तर्दृष्टि की झलक पायी जा सकती है। वस्तुतः **स्वामीजी के विचारों को समझने का सही अर्थ ही भारतीय संस्कृति को समझना है। स्वामीजी स्वयं अपने को 'साकार भारत' कहा करते थे।** उनके राष्ट्रप्रेम में संकीर्ण राष्ट्रीयता के लिए कोई स्थान नहीं था। राष्ट्रीय जीवन का सूक्ष्म अन्तर्बोध ही उनके अनन्य राष्ट्रप्रेम की बुनियाद थी। वे हिन्दू युवकों को सम्बोधित करते हुए कहते हैं, "केवल तभी तुम हिन्दू कहलाने के अधिकारी हो, जब यह नाम सुनते ही तुम्हारे शरीर की रक्त-शिराओं में विद्युत की तरंग दौड़ जाय।" इन वाक्यों का निहितार्थ भी भारतीय संस्कृति के उनके अवलोकन पर निर्भर करता है।

कल्पना की जा सकती है कि स्वामीजी के मनाकाश में 'हिन्दू' शब्द का स्फुरण, भारतीय जीवन के कैसे-कैसे तूफान उठाता होगा! विगत पाँच हजार वर्षों के इसके गौरवमय पुरा-आख्यान में क्रम-क्रम से चित्र बदलते होंगे। स्वामीजी कभी वेदों की समन्वय-वाणी – **'एकं सद् विप्रा वहुधा वदन्ति'** का सस्वर गान सुनते होंगे, तो कभी निर्भीक बालक नचिकेता का गाम्भीर्य उन्हें मुग्ध करता होगा और कभी उनके मानस-पटल पर उपनिषदीय ऋषि याज्ञवल्क्य द्वारा मैत्रेयी को दिया गहन तात्त्विक उपदेश उभर आता होगा। कभी भगवान श्रीकृष्ण द्वारा गीता में किया गया अद्भुत समन्वय-कार्य उनके कुतूहल का विषय बनता होगा, तो कभी भगवान बुद्ध का महान् आत्म-त्याग उनमें तीव्र वैराग्य का संचार करता होगा। कभी वे शंकर की तीव्र मेधा में आप्लावित, तो कभी चैतन्य के अलौकिक नृत्य के महाभाव में डूब जाते होंगे। अपने गुरुदेव सर्वधर्म-समन्वयकर्ता श्रीरामकृष्ण के दिव्य प्रेम व करुणा का स्मरण तो उन्हें प्रायः ही होता होगा।

अस्तु, तैंतीस करोड़ हिन्दुओं की तीन हजार वर्षों की धार्मिक आस्था के ज्वलन्त प्रतीक श्रीरामकृष्ण से मिली आध्यात्मिक दीक्षा, उनकी प्रखर मेधा तथा अखण्ड भारत की परिव्रज्या 'हिन्दू' के पूर्वोक्त उद्गारों की पृष्ठभूमि में निहित हैं। स्वामीजी की उपर्युक्त हिन्दुत्ववादी धारणा, जितनी किसी हिन्दू की संग्रहणीय निधि है, उतनी ही वह अन्य धर्मावलम्बियों के लिए ईर्ष्यणीय कसौटी भी है। सभी धर्म व जाति के मानवों के मध्य की मूलभूत एकता ही उनके सर्वधर्म समन्वय, सहिष्णुता एवं पारस्परिक आदान-प्रदान की महत्त्वपूर्ण आधारिका है। दुनिया के धार्मिक जन जितना ही इस वास्तविक एकता – अद्वैत के समीप पहुँचेंगे, उतना ही दुनिया से धार्मिक उन्माद दूर होगा। तभी दुनिया में सार्वभौम की स्थापना हो सकेगी। ऐसा सार्वभौमिक धर्म विज्ञान के अन्धविश्वास-रहित ज्ञान पर अधिष्ठित होगा। और स्वामीजी हर्ष-मिश्रित कुतूहल के साथ ऐसे विज्ञान-सम्मत सार्वभौमिक धर्म के रूप में वेदान्त की प्रतिष्ठापना की पूर्व-घोषणा करते हैं।

उनके 'हिन्दू' विचार में ईसा के प्रेम, पैगम्बर मुहम्मद साहब की समता व बन्धुता के विचार तथा गुरु गोविन्दसिंह जी के पौरुष-पराक्रम – सभी का समावेश व आह्वान है। अन्यथा इस्लामी शरीर में वेदान्ती मस्तिष्क के समन्वय की आवश्यकता, ईसाई राष्ट्रों की संगठन-क्षमता का भारतीयों में प्रवेश, बुद्ध के हृदय के साथ शंकर की बुद्धि के समन्वय की आकांक्षा, पश्चिम के विज्ञान और भारत के आध्यात्मिक ज्ञान के बीच परस्पर आदान-प्रदान तथा विनिमय जैसे व्यापक विचारों का उनमें समावेश सम्भव नहीं होता।

सम-सामयिक घटनावली में 'धर्म' की छद्म ध्वजा के नीचे कटुता और वैमनस्य का वातावरण निर्मित हुआ है, परन्तु मानव-समाज के इतिहास में यह कोई नवीन घटना नहीं है। इतिहास के प्रत्येक सोपान में धर्म-प्रचार के विजयी रथ के नीचे मानवता ने निरीह क्रन्दन किया है। धर्म के इस विध्वंसक स्वरूप से चिन्तित होकर कुछ आधुनिक चिन्तकों ने धर्म को ही मानव-जीवन से निष्कासित करने का विचार प्रकट किया है। परन्तु स्वामीजी के लिए धर्म का अर्थ है – प्रत्यक्षानुभूति। सत्य के प्रत्यक्ष अनुभव में मत-मतान्तरों के विशिष्ट आग्रहों का कोई महत्त्व नहीं है। यदि वर्तमान धर्म

व्यक्ति के आध्यात्मिक पोषण में असहायक हों, तो अनेक नूतन धर्मों की उत्पत्ति स्वागत-योग्य है।

आजकल 'हिन्दुत्व' के विचार को जातीय अभिमान का विषय बना लिया गया है। हिन्दू संस्कृति की श्रेष्ठता के प्रदर्शन में, दूसरी संस्कृतियों की निम्नता का भाव संकेतित रहता है। यह अत्यन्त दुर्भाग्यपूर्ण है, क्योंकि इससे केवल कटुता ही फैलेगी। स्वामीजी के विचारों में केवल सृजनात्मक शक्ति के रूप में ही जातीय अभिमान के दर्शन होते हैं। उनके सम्मुख अतीत के वैभव का स्मरण, वर्तमान में हुई व्याधियों का निदान है। आजकल हिन्दुत्ववाद के अन्तर्गत आर्यों के आगमन की समस्या, 'हिन्दू' शब्द की व्युत्पत्ति, धर्म-परिवर्तन, हिन्दुत्व की रक्षा तथा धार्मिक उन्माद आदि कुछ प्रश्नों पर भी चर्चा चल रही है।

आर्यों ने द्रविड़ों को उत्तर भारत से खदेड़कर दक्षिण भारत में सीमित कर दिया था – आर्यों के सम्बन्ध में प्रचलित यह मत स्वामीजी को सर्वथा अतार्किक, निर्मूल एवं हास्यास्पद प्रतीत होता था। वे अन्य अधिसंख्य विद्वानों से इस बारे में सहमत थे कि प्राचीन सिन्धुवासियों को 'हिन्दू' सम्बोधन ईरानी लोगों ने दिया। धर्म-परिवर्तन की समस्या और इससे सम्बन्धित अस्पृश्यता के प्रश्न पर स्वामीजी के विचार अत्यन्त मननीय हैं। **मानव के मूलभूत दिव्य स्वभाव में उनकी गहरी आस्था का परिचय हमें उनके विचारों में मिलता है।** अद्वैत वेदान्त की सिंह-गर्जना, जगत् के मिथ्यात्व का प्रचण्ड निरूपण और फिर उसके साथ ही पीड़ित मानवता के प्रति असीम करुणा का भाव निस्सन्देह दुर्लभ है। उल्लेखनीय है कि **पीड़ित, पददलित तथा सदियों से सताए जा रहे दुखी, निर्धनों को उन्होंने 'दरिद्र-नारायण' सम्बोधन दिया।** निर्धनों के प्रति सहानुभूति प्रदर्शित करते हुए उनकी दयनीय दशा में परिवर्तन की दिशा में सचेष्ट रही साम्यवाद, समाजवाद एवं मानवतावादी प्रवृत्तियों और भारतीय संस्कृति के परिपाक – आध्यात्मिकता का गहरा समन्वय इस 'दरिद्र-नारायण' के भाव में एकत्र हुआ है। उन्होंने धर्म-परिवर्तन के विचार को तो स्वीकार नहीं किया, परन्तु उन्हें उच्च जाति के लोगों द्वारा निरन्तर अपमान झेल रहे, निम्न जाति के लोगों का सहानुभूति व आत्मसम्मान न पाकर धर्म-परिवर्तन कर लेना आश्चर्यजनक नहीं लगा। उनके उपदेश उच्च व निम्न दोनों जातियों के लोगों के लिए थे। उन्होंने उच्च जाति के लोगों की घृणित जघन्य निष्ठुरता के लिए उनकी भर्त्सना की और धर्मान्तरित होकर अहिन्दू हुए लोगों द्वारा संभाव्य भीषण प्रतिशोध की भयावहता का दिग्दर्शन कराया। निम्न जाति के लोगों के प्रति उनका उपदेश सर्वथा मौलिक तथा विरल था।

स्वातंत्र्य संग्राम के राष्ट्रवीर तथा स्वातंत्र्येतर काल के राष्ट्रनीति-निर्धारक इस समस्या के निराकरण में उनके समान प्रतिभा व साहस का परिचय न दे पाए। इन सुधारकों ने सच्ची चिन्ता की, किन्तु गलत मार्ग अपनाया। तात्कालिक लाभ के लिए तुष्टीकरण की नीति अपनायी गयी। इस तथ्य की अवहेलना की गई कि **दायित्वों के रणक्षेत्र में पद-सम्मान और ख्याति, संघर्ष के उपरान्त ही मिलती है।** स्वामीजी को इस तथ्य की अवगति थी। उन्होंने निम्न जाति के लोगों से अपना वैचारिक और नैतिक स्तर ऊँचा उठाकर स्वयं सम्मान अर्जित कर लेने का आह्वान किया।

स्वामीजी ने धर्म को भारत का मेरुदण्ड और आध्यात्मिकता को हिन्दू जाति का सार-तत्त्व इंगित किया है। हिन्दुत्व के रक्षण का अर्थ इन मूलभूत भावों का रक्षण करना है। एक विशिष्ट जीवन-शैली के बाह्य आचार-व्यवहार युगधर्म के साथ परिवर्तित होते रहते हैं। इसको स्थायी बनाए रखने का हठ वैचारिक दिवालिएपन का सूचक होगा। किसी ध्वज के नीचे आदिम मानवीय संवेगों से चालित होकर बर्बरतापूर्ण कृत्य करना उन्माद की अवस्था है। किसी भी धर्म में जब सच्ची धार्मिक निष्ठा का अभाव होता है, तभी धार्मिक उन्माद एवं उग्रवाद प्रकट होते हैं।

अस्तु, स्वामीजी की हिन्दुत्व की अवधारणा से जीवन के लिए एक शक्तिप्रद भाव आता है। उनके आह्वान में मनुष्य-निर्माण का परम प्रेरणादायी भाव निहित है। चरित्रवान तथा आत्मनिर्भर युवक ही उग्रवाद व उन्माद प्रवृत्तियों से सुरक्षित रहकर सृजनशीलता की ओर अग्रसर हो सकते हैं। ❑❑❑

वैराग्य-महिमा

स्वामी मेधानन्द पुरी, कैलास आश्रम, ऋषिकेश

भगवान श्रीरामकृष्ण देव के उपदेशों के सारांश को वैराग्य कहा जा सकता है। वे सबको कामिनी-कांचन से दूर रहने की सलाह देते थे। स्वामी विवेकानन्द जी ने दक्षिण भारत में रामनाद-महाराज के स्वागत का उत्तर देते हुए कहा था, "भारत देश एक दिन उच्चावस्था को प्राप्त होगा। उसका एक ही सुर है – त्याग-वैराग्य। वही भारतवासियों की आध्यात्मिकता का सांकेतिक पद है। दुनिया दो दिन का तमाशा है। जीवन तो और भी क्षणिक है। इसके परे, इस मिथ्या संसार के परे उस अनन्त अपार का राज्य है; आइये उसी का पता लगायें।" लाहौर वेदान्त पर अपना व्याख्यान देते हुए स्वामीजी ने कहा – सीमित प्रापंचिक विषयों द्वारा अपरिमित एवं असीमित परमात्मा को नहीं जाना जा सकता। इसलिए अन्तर्मुखी होना चाहिए। इसी को वैराग्य कहते हैं।

स्वामीजी को तो पूरा हिमालय ही मानो त्याग एवं वैराग्य का सन्देश देता था। अमेरिका से लौटने के बाद अल्मोड़ा के नागरिकों द्वारा प्रदत्त अभिनन्दन का उत्तर देते हुए उन्होंने कहा था – "यहाँ आते समय गिरिराज की एक के बाद दूसरी चोटी जैसे-जैसे मेरी दृष्टि के सामने आती गयी, वर्षों से मेरे मस्तिष्क में भरी हुई मेरी कार्य करने की समस्त इच्छायें तथा भाव धीरे-धीरे शान्त होने लगे। और इस विषय पर बातचीत के बजाय कि क्या कार्य हुआ है तथा भविष्य में क्या होगा, मेरा मन उसी शाश्वत भाव की ओर खिंच गया, जिसकी शिक्षा हमें गिरिराज हिमालय सदैव से देते रहे हैं, जो इस स्थान के वातावरण में भी प्रतिध्वनित हो रहा है तथा जिसका निनाद मैं आज भी यहाँ कलकलवाहिनी सरिताओं में सुनता हूँ और वह भाव है – **त्याग। सर्वं वस्तु भयान्वितं भुवि नृणां वैराग्यमेवाभयम्** – 'इस संसार की प्रत्येक वस्तु भय से भरी है। यह भय केवल वैराग्य से ही दूर हो सकता है। इसी से मनुष्य निर्भय हो सकता है।' सचमुच यह वैराग्य का ही स्थान है। **गिरिराज हिमालय वैराग्य एवं त्याग के सूचक हैं तथा वह सर्वोच्च शिक्षा, जो हम मानवता को सदैव देते रहेंगे, त्याग ही है।**" (विवेकानन्द साहित्य, खण्ड ५, पृ. २४४)

इन्द्रियों से विच्छेद और इन्द्रिय-लोलुप न होना ही वैराग्य का सांकेतिक पद है। वैराग्य ही सारे श्रेयों का सांकेतिक पद है। तपस्या तथा वैराग्य के द्वारा इस संसार को पीछे हटाकर नाम-रूपातीत आत्मस्वरूप को पाना ही मोक्ष है।

मुण्डकोपनिषद् (१.२.१२) में ऐसा श्रुतिवाक्य आता है – **परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदम् आयात् नास्त्यकृतः कृतेन** – अर्थात् वेद-विहित कर्मों का विधान अज्ञानियों के लिए ही किया गया है। इसका फल उत्तरायण और दक्षिणायण मार्ग है। वेद-निषिद्ध कर्मों का फल नरक, प्रेत तथा तिर्यक् योनियाँ हैं। कर्म बीजांकुर के समान है। मरु-मरीचिका के जल के समान ही कर्म भी निस्सार है। इस प्रकार विचार और परीक्षा करके ब्रह्मजिज्ञासु-जन वैराग्य-सम्पन्न हों। सारे लोक कर्ममूलक ही हैं। सम्पूर्ण चौदह लोकों में नित्यत्व नहीं है। कृत कर्मों द्वारा अकृतरूप नित्य आत्मचैतन्य प्राप्त नहीं हो सकता।

श्री शंकराचार्य की 'उपदेशानूभूति', महाभारत का शान्ति पर्व, अष्टावक्र-संहिता, स्वामी विद्यारण्य द्वारा रचित 'जीवन-मुक्ति-विवेक' एवं अष्टादश पुराणों में वैराग्य विषयक श्लोकों के विवरण पठनीय है –

ब्रह्मादि स्थावरान्तेषु वैराग्यविषयेष्वनु।
यथैव काकविष्ठायां वैराग्यं तद्धि निर्मलम्॥

– प्रजापति ब्रह्मा के लोक से लेकर स्थावर पर्वत तक, उन लोकों के विषय-भोगों का विवेचन कर काक-विष्ठा की तरह त्याग देना चाहिए। यही निर्मल, शुद्ध वैराग्य का लक्षण है।

स्वामी विवेकानन्द ने लन्दन नगर में 'मुक्ति' पर प्रवचन देते हुए वैराग्य का इन शब्दों में निरूपण किया था – "यह प्रपंच तुच्छ है, इसे परमात्मा का प्रतिबिम्ब कह सकते हैं। हम सबके भीतर रहनेवाले परम-तत्त्व का हमें अनुभव होना चाहिए। वैराग्य ही हमें उस स्थिति में पहुँचा सकता है।"

जीवन सत्य का आधार वैराग्य ही है। ध्यानमग्न होकर, स्वचिन्तन-रहित क्षण, दूसरों की सेवा में उपयोग किए गए क्षण, सद्-आचरित क्षण ही हमारे जीवन-सत्य के अनुभव किए हुए क्षण हैं। सीमित अहंकार के नष्ट होने के बाद ही हम सब सत्य के साथ एकीभूत हो सकते हैं। हमारे भीतर स्थित स्वाभाविक प्रत्यक्-चैतन्य ही उस ईश्वर का स्वरूप है। इसलिए भगवान गीताचार्य ने **असक्तः सर्वभूतेषु** कहा है। अज्ञान रूपी आवरण से ढँककर जीव सुषुप्ति में जिस आनन्द की अनुभूति कर रहा है, वैराग्य द्वारा मन को एकाग्र करके जाग्रत अवस्था में उसी आनन्द का अनुभव करना ही जीवन की परमावधि तथा लक्ष्य है।

महाभारत में भी (शान्ति पर्व, ३२९/४०) त्याग का निदर्शन मिलता है –

त्यज धर्मम् अधर्मं च उभे सत्यानृते त्यज।
उभे सत्यानृते त्यक्त्वा येन त्यजसि तत् त्यज॥

– "धर्म-अधर्म, सत्य-मिथ्या दोनों को त्याग देना चाहिए और दोनों का त्याग करने के बाद जिस (अहं) के द्वारा त्याग करते हैं, उसे भी त्याग देना चाहिए।"

धर्म-अधर्म, सत्य-असत्य संसार प्रारम्भ करनेवाले हैं, इसलिए मुमुक्षुजन को उन्हें त्यागने का प्रयत्न करना चाहिए। हमारे प्रत्यक्-चैतन्य के साथ सम्बन्ध न रहने के कारण 'मैं त्याग रहा हूँ' – इस अहं-बुद्धि, इस मनोभाव को भी छोड़ देना चाहिए। त्याग के कर्ता-प्रमाता या प्रमातृत्व – अभिमान संसार-दुख के कारण हैं, कर्तृत्व-भोक्तृत्व आदि स्व-स्वरूप आत्मा में नहीं हैं।

मुक्तिमिच्छसि चेत्तात विषयान् विषयवत् त्यज।
क्षमाऽऽर्जव-दयातोष-सत्यं पियूषवत् भज ।।
(अष्टावक्र-संहिता)

– "यदि मुक्ति की कामना है तो विषयों की इच्छाओं को विष के समान त्याग करना चाहिए। और क्षमा, ऋजुता, सरलता, दया, संतृप्ति एवं सत्यता को अमृत-सदृश मानकर इसका सेवन करना चाहिए।"

बन्धन अर्थवाले 'षिय्' धातु से 'विषय' शब्द बना है। विशेष रूप से बाँधनेवाले ही विषय कहलाते हैं। अन्त:करण में सर्वव्यापी आत्मचैतन्य प्रतिबिम्बित होने से शरीर, मन तथा इन्द्रियों में 'मैं और मेरा' का मिथ्या भाव उत्पन्न हो रहा है। पंचभूतों से निर्मित ये शरीर, मन तथा इन्द्रियाँ जड़ ही तो हैं। तथापि यह जड़, मन को बहिर्मुख करके प्रतिबिम्बित चेतना (अन्त:करण-युक्त सूक्ष्म शरीर) को पापभूयिष्ठ कर्मों द्वारा बलात् बारम्बार संसार में खींच रहा है। इसलिए वैराग्यहीन विषयी व्यक्ति को आत्म-साक्षात्कार नहीं हो सकता।

न त्यक्त्वा सुखमाप्नोति न त्यक्त्वा विन्दते परम्।
न त्यक्त्वा निर्भयं शेते सर्वे त्यक्त्वा सुखी भवेत् ।।
(जीवन-मुक्ति-विवेक)

– "त्याग-वैराग्य के बिना सुख की प्राप्ति नहीं हो सकती है, वैराग्य न होने पर परत्व – परम तत्त्व की प्राप्ति सम्भव नहीं है। त्याग-वैराग्यहीन व्यक्ति निर्भय होकर शयन नहीं कर सकता। इसलिए सब विषयों को काक-विष्ठा के समान त्यागकर सुख का अनुभव करें।" इसीलिए नचिकेता ने यमराज के प्रलोभन देने पर भी उसे अस्वीकार करते हुए कहा – **तवैव वाहास्तव नृत्यगीते** – "हे यमराज, अपने वाहनों एवं नृत्य-गीत करती स्वर्ग की अप्सराओं को अपने पास ही रखिए।" मुख्य रूप से आत्म-अन्वेषण करनेवाले साधकों को पुराणों में कही गई सूक्ष्म शरीर की वासनाओं का भी परित्याग कर देना चाहिए। वे कौन-सी हैं? –

अभिमान सुरापानं, गौरवं घोर रौरवम्।
प्रतिष्ठा शूकरीविष्ठा, त्रयं त्यक्त्वा सुखी भवेत् ।।
(आत्मपुराण)

बुद्धि, इन्द्रिय एवं शरीर के द्वारा होने वाले अभिमान को सुरा-पान के सदृश कहा है। गौरव घोर रौरव नरक के समान है। प्रतिष्ठा एवं यश की कामना ही सारे अनर्थों का मूल और शुकरी विष्ठा के समान है। साधक इन तीनों का त्याग करके सुखी रहे। इसीलिए तो भर्तृहरि जी ने कहा है – **वैराग्यमेवाभयम्।** ❑❑❑

श्रीरामकृष्ण-वचनामृतम्

रवीन्द्रनाथ गुरु

जीवात्मनो मनोदुग्धं यदि भवति मिश्रितम्।
संसारसलिलेनैव निजत्वं तन् न रक्षति ।।

– जीवात्मा का मनरूपी दुग्ध यदि संसाररूपी जल में मिश्रित हो जाता है, तो वह अपने विशुद्ध स्वरूप की रक्षा नही कर सकता।

नवनीतं मन: कुर्याद् ब्रह्मचर्यं समाचरन्।
संसार-सलिले वत्स! न तल्लीनं भवेत्पुन:।।

– हे वत्स! ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए मन को नवनीत की भाँति निर्मल करना चाहिए। नवनीत-तुल्य मन पुन: संसार-सलिल में मिश्रित नहीं होता।

भगवद्भक्ति-तैलेन स्निग्धं कुर्वन् करद्वयम्।
कर्माणि कुरु सर्वाणि मोक्षामृतमवाप्स्यसि ।।

– दोनों हाथों में भगवत्प्रेम रूपी तेल लगाकर ही संसार के सभी कर्म सम्पन्न करने चाहिए। ऐसा कर पाने से तुम्हें मोक्षरूपी परम अमृत की प्राप्ति होगी।

अहं धीमान् यदा नष्ट: सुखी त्वं नात्र संशय:।
अहङ्कारो हि पापानां दु:खानाञ्चैव कारणम् ।।

– 'मैं बुद्धिमान हूँ' – ऐसी अहं-बुद्धि के नष्ट होने पर ही तुम सुखी होगे, इसमें सन्देह नहीं। अहंकार ही समस्त पापों तथा दु:खों का कारण है।

अहंमदो मनुष्याणामध: पतनकारणम्।
कुर्याच्छान्ति-प्रियस्तस्मादहङ्कारविवर्जनम्।।

– अहं-मद ही मनुष्यों की अधोगति का कारण है। इसलिए शान्तिप्रेमी जनों को चाहिए कि वे अपने अहंकार का परित्याग कर दें।

गंगा-दशहरा का पर्व

पं. कृष्णानन्द शर्मा हाथीवाले, प्रयाग

ज्येष्ठ शुक्ल दशमी को श्री गंगाजी स्वर्ग से पृथ्वी पर अवतीर्ण हुईं। इसलिए जहाँ भी गंगाजी हैं, वहाँ यह पर्व विशेष रूप से मनाया जाता है। पुराणों के मतानुसार राजा सगर के पुत्रों के उद्धार हेतु ही गंगाजी का पृथ्वी पर आगमन हुआ था। कथा है कि कपिल मुनि ने राजा सगर के साठ हजार पुत्रों को भस्म कर दिया था। राजा सगर की प्रार्थना पर मुनि ने उनके पुत्रों के उद्धार का एकमात्र उपाय बताया कि यदि स्वर्ग से गंगाजी आकर आपके पुत्रों के अस्थि का स्पर्श करें, तभी आपके पुत्रों का उद्धार हो सकता है। राजा सगर के प्रपौत्र भगीरथ की चेष्टा से गंगाजी पृथ्वी पर अवतीर्ण हुईं। इसके पूर्व इनके पिता व पितामह तपस्या करते हुए दिवंगत हो चुके थे। भगीरथ की कठोर तपस्या से द्रवित होकर ब्रह्मा जी ने कहा कि मैं गंगाजी को अपने कमण्डल से छोड़ सकता हूँ, पर उनका वेग इतना प्रबल होगा कि पृथ्वी उनके वेग को सहन न कर सकेगी और गंगाजी पाताल लोक में चली जायेंगी, जिससे आपका अभिष्ट सिद्ध नहीं हो सकेगा। अत: आप उनके वेग को धारण करने हेतु भगवान आशुतोष शंकर को प्रसन्न करें। वे गंगाजी को अपनी जटाओं में धारण करके पुन: आपके लिए गंगाजी को छोड़ देंगे। तब आप उन्हें ले जाकर अपने पूर्वजों का उद्धार करने में सफल होंगे। भगीरथ जी ने ऐसा ही किया। भगवान शंकर ने गंगाजी को धारण करना स्वीकार किया तथा पृथ्वी पर अवतीर्ण होने के लिए अपनी जटाओं से मुक्त किया।

विष्णु-पादाब्ज-सम्भूते, गंगे त्रिपथगामिनी ।
धर्मद्रवेति विख्याता, पापं मे हर जाह्नवी ।।

– "हे विष्णु के पादपद्मों से पैदा हुई गंगे, हे त्रिपथगामिनी, हे धर्मद्रव के रूप में विख्यात जाह्नवी, मेरे पापों को हरो।"

गंगाजी भगवान विष्णु के चरणों में विराजित थीं। वामन अवतार के समय भगवान ने जब अपना दूसरा पग ब्रह्मलोक में किया तो ब्रह्माजी ने अपने कमण्डल में उनका चरण-प्रक्षालन किया, तब से गंगाजी उनके कमण्डल में विराजमान हुईं। उसके बाद शंकर जी की जटाओं से होती हुई पृथ्वी पर अवतीर्ण हुईं। अत: गंगाजी को त्रिपथगामिनी कहा गया।

गंगाजी के पृथ्वी पर अवतीर्ण होने पर आगे-आगे भगीरथ चल रहे थे और उनके पीछे-पीछे गंगाजी आ रही थीं। रास्ते में जह्नु ऋषि का आश्रम पड़ता है। गंगाजी के वेग से उनकी कुटी को क्षति पहुँची तथा उनके ध्यान में विघ्न पड़ा, अत: वे गंगाजी को पी गये। भगीरथ के प्रार्थना करने पर उन्होंने अपनी जाँघ से गंगाजी को निकाला। इस प्रकार गंगाजी फिर भगीरथ के पीछे-पीछे चलने लगीं। पुराणों में कथा है कि प्रयागराज में भगीरथ के प्रयास में पुन: विघ्न पड़ा। यहाँ यमुना जी पहले से ही विराजमान थीं। उन्होंने गंगाजी को रोक दिया और कहा कि गंगाजी के आगे जाने से हमारा नाम समाप्त हो जाएगा, अत: मैं उनको आगे नहीं जाने दूँगी। भगीरथ ने पुन: तपस्या करके ब्रह्माजी को अपनी कठिनाई से अवगत कराया। ब्रह्माजी ने समस्या के समाधान हेतु सरस्वती जी को भेजा। सरस्वती जी ने यमुना जी से प्रार्थना की कि आप गंगाजी को जाने दें, आगे नाम गंगा का परन्तु रूप आपका रहेगा। इस प्रकार समाधान करके जलरूप धारण करके वे गंगा-यमुना के मध्य में विराजमान हो गईं। यथा –

गंगा यमुनयोर्मध्ये यन्त्र गुप्ताश्च संगमे ।।१।।
तथा विरंचि तनये देवि ब्रह्मरन्ध्र निवासिनी ।
प्रयागे मिलिते देवि सरस्वती नमोऽस्तुते ।।२।।
(प्रयाग-माहात्म्य-सप्ताध्यायी)

प्रयाग के बाद काशी, विंध्याचल, मिर्जापुर आदि स्थानों में गंगाजी का जल यमुना जी की भाँति श्यामल हो गया। गंगाजी ने पृथ्वी पर आने से पूर्व ब्रह्माजी से प्रार्थना की थी कि मृत्युलोक में सभी पापी-तापी मुझमें स्नान करेंगे, तो उनके पाप-भार से मुझे कैसे मुक्ति मिलेगी? इस पर ब्रह्माजी ने कहा – यदि एक भी पुण्यात्मा सन्त आपमें स्नान करेगा, तो आपके सारे पापों का भार समाप्त हो जाएगा।

गंगाजी सभी स्थानों में पूजनीय हैं, पर हरिद्वार, प्रयाग व गंगासागर – इन तीन स्थानों में इनका विशेष महत्त्व है –

गंगा सर्वत्र दुर्लभा त्रिस्थाने विशेषत: ।
हरिद्वारे प्रयागे च, गंगासागर संगमे ।।

ज्येष्ठ-शुक्ल प्रतिपदा से दशमी तक के दस दिनों के दौरान गंगा जी का विशेष पूजन-अर्चन किया जाता है। इसी को गंगा-दशहरा कहते हैं। इन दस दिनों के पूजन से दस प्रकार के पापों का शमन होता है – **नमो भगवत्यै दशपाप-हरायै गंगायै कृष्णायै । विष्णुरूपिण्यै नन्द्यै नमो नम: ।।**

इन दस दिनों के दौरान माँ गंगा का स्मरण, स्नान, मार्जन तथा पूजन का विशेष महत्त्व है। मनुष्य को बड़े भाग्य से पतितपावनी गंगाजी के तट पर निवास-स्नान-पूजनादि का अवसर प्राप्त होता है। हर सनातनधर्मी की अभिलाषा रहती है कि मृत्यु-क्षण में उसे गंगा-जल की प्राप्ति अवश्य हो, जिससे उसके सारे पापों का क्षय हो और उसे मुक्ति मिले। ऐसी माँ गंगा के पादपद्मों में कोटि कोटि प्रणाम !!!

❑❑❑

स्वामी तुरीयानन्द के उपदेश

(पत्रों से संकलित)

३२/५/१९२०

अपने आपको क्रमश: समझ पा रहे हो, यह कम बात नहीं है। इसी प्रकार बाहर से अन्तर में प्रवेश करते करते क्रमश: अन्तरतम में पहुँचकर वहीं पर अपनी यथार्थ स्थिति समझ पाने से परम कार्य हो जाएगा। तब –

श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो यत्
वाचो ह वाचं स उ प्राणस्य प्राणः।
चक्षुषः चक्षुः अतिमुच्य धीराः
प्रेत्य अस्मात् लोकात् अमृता भवन्ति ।।

– "वे ही कानों के कान, मन के भी मन, वाणी की भी वाणी, प्राण के भी प्राण और नेत्र के भी नेत्र हैं: विवेकी पुरुष इन्द्रियों आदि में आत्मबुद्धि को त्यागकर, इस संसार से निवृत्त होकर अमृतत्व प्राप्त करते हैं।" (केनोपनिषद्, १/१/२)

यह अवस्था प्राप्तकर जीव धन्य हो जाता है। आत्माराम होकर **न ततो विजुगुप्सते** – 'तब वह किसी से घृणा नहीं करता', जब तक देह, मन व इन्द्रियों के साथ अपना सम्बन्ध है, तभी तक भले-बुरे आदि का बोध है। परमात्मा के साथ सम्बन्ध दृढ़ कर लेने पर वह सब कुछ भी नहीं रह जाता अर्थात् उन सबको अपना कहकर कष्ट नहीं उठाना पड़ता।

आत्मानं चेद् विजनीयाद् अयमस्मीति पुरुषः।
किमिच्छन् कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत्।

– "यदि कोई परमात्मा को 'मैं वही हूँ' – ऐसा जान लेता है, तो फिर वह किस कामना से, किस कारण से शरीर के दुख से दुखी होगा। (बृहदारण्यक उपनिषद्, ४/४/१२)

मैं आत्मा हूँ यह ज्ञान होने पर, मन तथा शरीर कष्ट में रहने पर भी जीव स्वरूप की उपलब्धि करके आनन्दपूर्वक रह सकता है। उस दुःख से दुःखी नहीं होता। मैं शरीर हूँ यह सोचते सोचते वह शरीर ही हो गया है। फिर मैं आत्मा हूँ ऐसा विचार करते करते वह आत्मा क्यों न होगा? असत्य को सत्य कहकर स्वीकार करने से उसकी यह दशा हुई है। सत्य को सत्य कहकर जानने से ही उसकी यह दुर्दशा दूर होगी और शुभदिन का उदय होगा। अनन्त धैर्य के साथ दीर्घकाल तक अभ्यास की आवश्यकता है। अभ्यास और वैराग्य ही एकमात्र सहायक हैं। मन में इच्छा रहने पर ही प्रभु की कृपा से सब ठीक हो जाता हैं।

गीता पढ़ने से हृदय में सभी सत्यों की आसानी से धारणा हो जाती है। **"त्वाम् अनुसन्दधामि भगवद्-गीते भव-द्वेषिणीम्** – "हे भवबन्धन का नाश करनेवाली भगवद्गीते, मैं आपका अनुध्यान करता हूँ।" इसके ऊपर और क्या है? जीवन में मरण में, यही तो गति है। दियासलाई की एक तिली सौ साल के अन्धकार को क्षणमात्र में नष्ट कर देती है। उसी प्रकार भगवत्कृपा का एक कण जन्म-जन्मान्तर का अन्धकार दूर कर डालता है। ठाकुर की यह उक्ति कभी न भूलना। व्याकुलता की खूब आवश्यकता है क्योंकि इसी से कार्यसिद्धि में शीघ्रता होती है। तुम्हारी खूब उन्नति हो रही है, यह जानकर वास्तव में मैं विशेष आनन्दित हुआ हूँ।

प्रारम्भ में पश्चात्ताप और ग्लानि की आवश्यकता हो सकती है, परन्तु बाद में उसी को लेकर पड़े रहने से कोई लाभ नहीं, वरन् विशेष हानि है। अत: वह त्याज्य है। इसे तामसी धृति कहते हैं –

यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च।
न विमुञ्चति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थ तामसी ।।

– "हे पार्थ, जिसके कारण दुर्बुद्ध मनुष्य स्वप्न, भय, शोक, विषाद तथा मद को नहीं त्यागता, वही तामसी धृति है। (गीता, १८/३०)

पश्चात्ताप की सार्थकता निवृत्ति में ही है। नहीं तो फिर केवल पश्चात्ताप ही करने से क्या लाभ?

कृत्वा पापं हि संतप्य तस्मात्पापात्प्रमुच्यते।
नैतत्कुर्यां पुनरिति निवृत्त्या पूयते नरः ।।

– "पाप करने के बाद पश्चाताप होने पर मनुष्य उस पाप से मुक्त हो जाता है और 'मैं पुन: ऐसा नहीं करूँगा' – इस निश्चय से पवित्र हो जाता है।" (मनुस्मृति, ११/२३०)

– मनु का यही कहना है।

❑❑❑

मनुष्य द्वारा उत्पन्न की जा सकनेवाली ऊर्जा का प्रबलतम रूप है प्रार्थना। यह उतनी ही यथार्थ है, जितनी की पृथ्वी की गुरुत्वाकर्षण-शक्ति। एक चिकित्सक के रूप में मैंने देखा है कि जब सब प्रकार की चिकित्सा-पद्धतियाँ असफल हो गयीं, तब प्रार्थना की उदात्त शक्ति से रोगी रोग तथा हताशा से मुक्त हुआ।

– डॉ. अलेक्सिस कैरल

भारत की नाक विदेशों ने चुराई

देश के प्रख्यात विज्ञान-लेखक तथा स्थानीय सी.वी.रमन विश्वविद्यालय के चांसलर डॉ. गुणाकर मुले ने बताया कि प्लास्टिक सर्जरी का विकास सबसे पहले भारत में एक कुम्हार ने किया था, लेकिन उसके प्रदर्शन के दौरान उपस्थित दो विदेशी डॉक्टरों ने इसका फायदा उठाया और इस कला को यूरोप ले जाकर उसे स्थापित कर दिया। यह एक ऐतिहासिक तथ्य है कि नाक की प्लास्टिक सर्जरी सबसे पहले भारत में ही हुई थी।

डॉ. मुले (८ नवम्बर २००३ को) विश्वविद्यालय के द्वितीय स्थापना-दिवस पर आयोजित व्याख्यान-माला के प्रमुख वक्ता थे। उन्होंने 'विज्ञान और समाज : भारतीय परिप्रेक्ष्य' विषय पर अपने विचार व्यक्त किए। करीब पौने दो घण्टे के व्याख्यान में उन्होंने भारतीय समाज और आयुर्वेद चिकित्सा के परस्पर सम्बन्धों पर भी प्रकाश डाला और बताया कि १७६९ से १७९९ ई. की तीस साल की अवधि के दौरान ब्रिटिश सेना और हैदर अली तथा उसके बेटे टीपू सुलतान के बीच चार मैसूर-युद्ध हुए। इस दौरान अंग्रेजों को दो अत्यन्त महत्वपूर्ण तकनीकों – राकेट-निर्माण और प्लास्टिक-सर्जरी की जानकारी मिली। बाद में दोनों तकनीकों का पहले इंग्लैंड में और बाद में यूरोप के अन्य देशों में तेजी से विकास हुआ। अंग्रेजों ने भारतीयों से प्लास्टिक-सर्जरी की विद्या किस तरह सीखी – यह एक बड़ी दिलचस्प दास्तान है।

उन्होंने बताया कि अंग्रेजों की खिदमत करने वाला कावसाजी नाम का एक मराठा गाड़ीवान और चार तिलंगे मैसूर राज्य की सीमा में दाखिल हुए। टीपू के सिपाहियों ने उन्हें पकड़ लिया और उनकी नाक काट दी। फिर उन्हें वापस अंग्रेज कमाण्डर के पास भेज दिया। वह अंग्रेज कमाण्डर एक भारतीय व्यापारी से कोई सौदा तय कर रहा था। उसने देखा कि व्यापारी की नाक कुछ अजीब तरह की है। उसके माथे पर जख्म भी थे। कमाण्डर के पूछने पर उसने बताया कि परस्त्री-गमन के अपराध में उसकी नाक काट दी गई थी। बाद में कुम्हार जाति के एक मराठा वैद्य से उसने अपनी नई नाक बनवाई। अंग्रेज ने उसी कुम्हार को बुलवाकर अपने तीन तिलंगों की नाक जुड़वाई। सर्जरी पुणे के पास के एक गाँव में हुई थी। उस समय दो अंग्रेज डॉक्टर वहाँ उपस्थित थे। कुछ दिन बाद 'मद्रास गजेटियर' नामक अखबार में इस सनसनीखेज सर्जरी का सचित्र प्रकाशन हुआ। फिर लन्दन से प्रकाशित होनेवाली 'जेंटलमैन्स मैग्जीन' नामक पत्रिका में इसका पुनर्मुद्रण हुआ। उस विवरण ने ३० साल के तरुण सर्जन जोसेफ कापुए को बहुत प्रभावित किया और वह भारतीय नाक की शोध में जुट गया। इस प्रकार यूरोप में आधुनिक प्लास्टिक सर्जरी का युग शुरू हुआ। विश्व-विज्ञान का इतिहास गवाह है कि केवल सैद्धातिक अन्वेषण से विज्ञान का दीर्घकालीन विकास सम्भव नहीं है। सैद्धान्तिक अन्वेषण और व्यवहारिक तकनीकों के मेलजोल से ही विज्ञान की प्रगति हो सकती है। रिव्यू कमेटी का मत है कि आठवीं की पाठ्य पुस्तक में आर्यभट्ट पर उनका पाठ कठिन है।

उन दिनों के भारत में धातुकर्म की स्थिति भी अच्छी थी। गुप्तकाल में श्रेणियों का विस्तार हुआ, तो धातुकर्म का भी विकास हुआ। उस काल के उन्नत धातुकर्म का साक्ष्य है कुतुबमीनार के पास खड़ा लौह स्तम्भ, जिसका निर्माण ४०० ई. के आसपास हुआ। लेकिन भारत के परम्परागत विज्ञान में बुनियादी खामियाँ थीं। भारतीय तकनीकों के विकास में कई बाधाएँ थीं। ❑

मिशन की शिक्षा का प्रभाव

कुख्यात डाकू ने डकैती छोड़ ईमानदारी का पेशा अपनाया

(आपने सुना होगा कि रत्नाकर नाम के एक कुख्यात डाकू ने देवर्षि नारद के उपदेशों के प्रभाव से भगवद्-भक्ति का मार्ग अपनाया और कालान्तर में 'रामायण' नामक महाकाव्य लिखकर वे महर्षि वाल्मीकि के रूप में सुविख्यात हुए। आज एक बार फिर वैसी ही घटना घटित हुई है। तीन बार डकैती के दलदल में गिर जाने के बाद अख्तर रामकृष्ण मिशन के संन्यासियों के सम्पर्क में आकर सामान्य जीवन बिताने लगा है। प्रस्तुत है सूजापुर, मालदा से प्रेषित तथा बंगला अखबार 'आनन्द बाजार पत्रिका' के ३१ अक्तूबर २००३ के अंक में प्रकाशित पीयूष साहा की रिपोर्ट का हिन्दी अनुवाद - सं.)

तीन बार जेल की सजा काटने के बाद जमानत पर छूटे हुए एक कुख्यात डाकू ने किस प्रकार बन्दूक और भुजाली छोड़कर एक नाई का पेशा अपनाया, इस कहानी को जानने के लिए आपको मालदा जिले के वामनग्राम के लालबाजार चलना होगा।

उम्र २२ वर्ष, दोहरा और साफ शरीर। अख्तर नाम का वह युवक एक सैलून में एकाग्रता के साथ केश-कर्तन तथा दाढ़ी बनाने के कार्य में लगा है। उसका चेहरा तथा कार्य देखकर भला कौन सोच सकता है कि चार माह पूर्व इन्हीं हाथों में बन्दूक रहता था!

बामन-डांगा ग्राम के निवासियों को मुहम्मद अख्तर में आये इस बदलाव की जानकारी थी और इसका कारण जानने को उनमें चरम कुतूहल भी था, पर कारण का पता उन्हें तब चला, जब विगत

१५ अक्तूबर को मालदा स्थित रामकृष्ण मिशन के अध्यक्ष स्वामी दिव्यानन्द जी वामनडांगा आये। स्वामीजी उस ओर से होकर पैदल जा रहे थे, तभी अचानक ही जाकर अख्तर उनके चरणों में गिर पड़ा। स्वामीजी पहले तो उसे पहचान ही नहीं सके। स्थानीय लोगों को विस्मय में डूबाते हुए भूतपूर्व खूँख्वार डकैत बोला, ''महाराज, मैं अख्तर डाकू हूँ। मालदा जेल में रहते समय मैं आपके स्कूल में पढ़ता था। आपकी शिक्षा से डकैती करना छोड़ चुका हूँ। अब मैंने गाँव में ही सैलून खोल लिया है। अपने साथ डकैती करनेवाले अन्य दो लोगों को भी सही रास्ते पर ले आया हूँ।'' दिव्यानन्द जी ने अख्तर को सीने से लगा लिया।

यह तो एक प्रकार से उनकी भी विजय है। अख्तर एक बार नहीं, लगातार तीन बार डकैती की घटनाओं में गिरफ्तार हुआ था। पहली या दूसरी बार उसमें परिवर्तन के कोई लक्षण नहीं दिखे। २००१ ई. में उसने बस-डकैती के अभियोग में ६०दिनों तक जेल की सजा भोगी। वहाँ से छूटने के बाद वह २००२ ई, में फिर गौड़ एक्सप्रेस में डकैती के आरोप में गिरफ्तार हुआ। इस बार उसे १०० दिनों की सजा मिली। फिर पिछले वर्ष वह डांदा क्षेत्र में डकैती के आरोप में गिरफ्तार हुआ। इस बार ७ फरवरी से उसे मालदा के सुधारगृह में रखा गया। उसके ठीक चार दिन पूर्व ही दिव्यानन्द जी ने कैदियों के लिए एक विद्यालय प्रारम्भ किया था, जो लगातार दो वर्ष तक बन्द रहा था। उस दिन स्वामी दिव्यानन्द जी ने कहा था, ''कैदियों के लिखना-पढ़ना सीख लेने पर समाज में अपराध बहुत घट जाएँगे। कोई जन्म से ही तो अपराधी होता नहीं।''

अख्तर को बोध हुआ कि वह जन्म से ही अपराधी नहीं था। उसी के शब्दों में - ''मैं तब लिखना-पढ़ना कुछ भी नहीं जानता था। केवल देखता था कि कुछ गेरुवाधारी संन्यासी प्रतिदिन जेल में आकर कैदियों को पढ़ा रहे हैं। मैं दरवाजे के बाहर से सुनता रहता था। एक दिन दिव्यानन्द जी कैदियों को पवहारी बाबा की कहानी सुना रहे थे। वह कहानी इस प्रकार है - एक दिन एक चोर पवहारी बाबा की कुटिया में चोरी करने के लिए घुसा। पवहारी बाबा की नींद टूटने पर वह चोर भागने लगा। पवहारी बाबा उस चोर के पीछे दौड़ पड़े और उसे पकड़कर बोले, ''बच्चा, इतना कष्ट करके आये हो, तो हमारा कम्बल-घड़ा आदि लिए बिना ही क्यों भागे जा रहे हो ! वह सब तो तुम्हारा ही प्राप्य है। इसे ले जाओ।'' बाबा की बातें सुनने के बाद उस चोर ने कभी चोरी नहीं की।

डबडबायी आँखों के साथ अख्तर बोला - ''पवहारी बाबा की कथा सुनने के बाद विचित्र-सा लगने लगा। कई दिनों तक सोचा, फिर संकल्प किया कि अब डकैती नहीं करूँगा। उसके बाद रोज कक्षा में बैठने लगा। अब तो लिख-पढ़ भी सकता हूँ।''

''लेकिन सिर के बाल और दाढ़ी बनाना किसने सिखाया?''

अख्तर ने बताया - ''जब निश्चय कर लिया कि अब गलत रास्ते पर नहीं जाऊँगा, तो जेल में ही जो व्यक्ति हम लोगों की हजामत बनाता था, उसी से मैने यह कार्य सिख लिया।''

लेकिन काम सीख लेने के बाद भी अख्तर के लिए काम करना उतना आसान नहीं था। ७२ दिनों तक जेल की हवा खाने के बाद जब गाँव लौटकर अख्तर ने बताया कि अब वह एक नया जीवन शुरू करना चाहता है, तो किसी ने भी उसकी बातों पर विश्वास नहीं किया। वह बताता है, ''पिता-चाचा और यहाँ तक कि मेरी पत्नी ने भी मेरी बात पर विश्वास नहीं किया। मेरी सहायता के प्रश्न पर सबने एक स्वर में 'नहीं' कह दिया। वैसे बाद में पिताजी और चाचा ने मेरे लिए १२००० रुपयों की व्यवस्था कर दी। मैंने सेलून खोला। पहले तो क्षेत्र का कोई भी मेरे पास नहीं आता था। अब सभी लोग आ रहे हैं। दिन में ८०-९० रुपये तक कमा लेता हूँ।''

मालदा जेल के सुपरिंटेंडेंट अमल घोष का कहना हैं - ''दस्यु डाकू रत्नाकर यदि वाल्मीकि हो सक्ते हैं, तो फिर अख्तर ही पुनः इस समाज में नैतिक सुसंस्कृत जीवन क्यों नहीं जी सकता !''

अख्तर केवल स्वयं को ही समाज की मूल धारा में लौटा लाया हो, ऐसी बात नहीं। कभी कुख्यात डाकू और शागीर्द रहे मोहम्मद माबूद को भी वह अपने सैलून में काम सिखा रहा है। एक अन्य डाकू सेफाउल शेख रिक्सा चलाने का काम करता है। इन डकैतों द्वारा अपराध छोड़कर व्यवसाय में लगने से क्षेत्र के लोगों को काफी शान्ति मिली है। अख्तर की बीबी शरीफा बेगम भी अपनी शान्ति का कारण बताती हैं, ''अब पुलिस-गाड़ी की आवाज सुनते ही मेरे पति को घर छोड़कर भागने की जरूरत नहीं पड़ती।''

अख्तर को सन्मार्ग पर लाने और सबको शान्ति प्रदान करने में मुख्य प्रेरक स्वामी दिव्यानन्द जी कहते हैं, ''सभी मनुष्यों में सुप्त देवत्व विद्यमान है, अख्तर आदि ने इसे पुनः प्रमाणित कर दिया।''

रायपुर में युवा-सम्मेलन

श्रीमाँ सारदा देवी का १५० वें जन्म-दिवस के उपलक्ष्य में विगत ४ जनवरी को रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर द्वारा एक-दिवसीय युवा-सम्मेलन का आयोजन किया गया, जिसमें १७५ युवकों तथा युवतियों ने योगदान किया।

वृन्दावन में श्रीमाँ सारदा देवी का १५० वाँ जन्मोत्सव

रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम, वृन्दावन में १६ दिसम्बर, २००३ को श्रीमाँ सारदादेवी का १५० वाँ अविर्भाव महोत्सव निम्नलिखित कार्यक्रम के अनुसार मनाया गया -

(क) इस उपलक्ष्य में १४ दिसम्बर २००३ को वृन्दावन और मथुरा के विभिन्न विद्यालयों और कॉलेजों के ६वीं से लेकर १२वीं तक के छात्रों के बीच 'माँ सारदा के जीवन और उपदेश' विषय पर प्रतियोगिताएँ आयोजित की गईं। इस प्रतियोगिता में आश्रम के नर्सिंग विद्यालय की छात्राओं ने भी भाग लिया। प्रतियोगिता में भाग लेनेवाले कुल प्रतियोगियों की संख्या २१५ थी।

(ख) १६ दिसम्बर को प्रातः ५ बजे मन्दिर में ध्यान, मंगल-आरती, वैदिक पाठ से कार्यक्रम प्रारम्भ हुआ और विशेष पूजा चण्डी-पाठ, हवन और अस्पताल में रोगी-नारायणों की सेवा की गई। १००० गरीब विधवा माताओं को भोजन-प्रसाद दिया गया और कम्बल, धोती, साबुन तथा सरसों का तेल प्रदान किया गया। उस दिन हजारों भक्तों, कर्मचारियों व दरिद्र-नारायणों को भोजन कराया गया। मथुरा-वृन्दावन के विभिन्न कॉलेजों तथा संस्थाओं के १४० छात्रों ने इस उत्सव में भाग लिया और सेवाएँ अर्पित कीं।

(ग) १६ दिसम्बर को ही अपराह्न ३.३० बजे एक धर्मसभा का आयोजन किया गया, जिसकी अध्यक्षता रमणरेती, महावन (मथुरा) के स्वामी गुरुशरणानन्द जी महाराज ने की और अनेक वक्ताओं ने श्रीमाँ सारदा देवी के जीवन और उपदेश पर महत्त्वपूर्ण व्याख्यान दिये। उस दिन अध्यक्ष के हाथों १४ दिसम्बर को हुई प्रतियोगिता के विजेताओं को पुरस्कार भी प्रदान किया गया।

नेत्र-विभाग का उद्घाटन - सेवाश्रम में नेत्र-रोगियों की अच्छी देखभाल तथा अच्छी सेवा प्रदान करने के लिए बहुत दिनों से एक पृथक् नेत्र-विभाग की आवश्यकता महसूस हो रही थी। पुरुष और महिला नेत्र-रोगियों के लिए दो अलग अलग वार्डों के पूर्णतः कायाकल्प से यह स्वप्न साकार हो उठा है। इसके साथ ही रक्त आदि के द्रुत तथा भलीभाँति परीक्षण करने के लिए हमारे पैथालाजिकल लेबोरेटरी में एक पूर्णतः स्वचालित बॉयो-केमेस्ट्री एनैलाइजर भी लगाया गया है। इससे गरीब रोगियों को नवीनतम चिकित्सीय जाँच का लाभ मिल सकेगा।

२५ दिसम्बर २००३ को वैदिक मन्त्र-पाठ, उद्बोधन संगीत तथा पूजा के साथ नेत्र-विभाग और पैथॉलाजिक लेबोरेटरी में स्थापित स्वचालित बॉयोकेमेस्ट्री एनैलाइजर का उद्घाटन सम्पन्न हुआ। इसका औपचारिक उद्घाटन कई महत्त्वपूर्ण विभूतियों, सम्माननीय सन्तों तथा अन्य लोगों की उपस्थिति में मंगलाचरण पाठ के साथ उत्तरप्रदेश सरकार के स्वास्थ्य विभाग के सचिव श्री आर.के. मित्तल (आई.ए.एस.) द्वारा सम्पन्न हुआ।

इसके बाद धर्मसभा हुई। असेम्बली हॉल का सभागार श्रोताओं से खचाखच भरा हुआ था। अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति के विद्वान् और राधारमण जी मन्दिर, वृन्दावन के महन्त श्रीवत्स गोस्वामी जी ने इस धर्मसभा की अध्यक्षता की। मुख्य सचिव श्री मित्तल, कुछ महत्त्वपूर्ण लोगों तथा चिकित्सकों ने सेवाश्रम के उद्देश्य, सेवाओं तथा गतिविधियों पर मूल्यवान विचार प्रस्तुत किये। सभी व्याख्यान उच्च कोटि के तथा प्रेरणादायी थे। इससे सभी समागत लोगों के मन में एक उत्सव का वातावरण तैयार हुआ। सेवाश्रम की गतिविधियों के बारे में जानकर वे लोग इतने प्रभावित और आनन्दित हुए कि पूरे एक घण्टे तक आश्रम-परिसर के कोने कोने तक का परिदर्शन करते रहे। सब कुछ शान्तिपूर्ण ढंग से सम्पन्न हो गया।

❑❑❑